चरित्र कथाएँ

प्रणम्या मातृ देवता:

[भाग - १]

० कृष्ण बिहारी 'प्रणत'

चरित्र कथाएँ

प्रणम्या मातृ देवताः

[भाग - १]

○ कृष्ण बिहारी 'प्रणत'

प्रकाशक :

लोकहित प्रकाशन

संस्कृति भवन, राजेन्द्र नगर
लखनऊ – २२६००४

द्वितीय संस्करण

विजयादशमी
३ अक्टूबर, १९९५
सम्वत् २०५२

मूल्य रु० १०.००

मुद्रक :

नूतन ऑफसेट मुद्रण केन्द्र

संस्कृति भवन, राजेन्द्र नगर
लखनऊ – २२६००४

समर्पण

"प्रणम्या मातृदेवताः" के इन पावन चरित्रों को मैं भारत की
उन माताओं को समर्पित करता हूँ जो अपनी गोद में पल
रही हमारी भावी पीढ़ी को उच्छृंखल भोगवाद की
ओर जाने से रोकें। और उसे अपने पोषक
स्तन्य के साथ हमारी संस्कृति का अमृत
भी पिलावें ताकि भारत "भारत"
बना रहे और अपने "स्व"
को खोकर "इण्डिया"
और "हिन्दोस्तान"
बनकर न रह
जाये।

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

इस भाग में उन परम पूज्या देवियों के प्रेरक चरित्रों को उकेरा गया है जिनका प्रातः स्मरण के पारम्परिक दो श्लोकों में से प्रथम के पूर्वार्द्ध में उल्लेख है। अर्थात् ''अरून्धत्यनुसूयाच सावित्री जानकी सती''। इन चरित्रों का विभिन्न पुराणों में और महा-काव्यों में इतनी बार कथनाकथन होता रहा है और वे सुदूर अतीत की इतनी पर्तों से परिवेष्टित है कि एक ओर तो चतुर्दिक दिव्यता के आभामण्डल ने उन्हें मानवस्तर से बहुत ऊपर उठाकर उन्हें अनुकरणीयता की सीमा से उस पार पहुंचा दिया है और दूसरी ओर उनमें अलौकिकता की विद्यमानता ने उन्हें हृदयंगम करने के प्रयासों को दुरूह बना दिया है।

इन चरित्रों की दिव्यता और अलौकिकता के अत्युच्च स्तर से नीचे उतारने का दुस्साहस तो मेरी लेखनी ने कदापि नहीं किया है। किन्तु वर्णनशैली को यथासम्भव वर्तमान के साथ जोड़कर उन्हें सर्वसाधारण मानवों के मध्य पूरी सजीवता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। हमारे सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा में इन चरित्रों की मौलिक भूमिका है, रहती रही है और रहती रहेगी। भारतीय वीरांगनाओं ने बर्बर आक्रमणकारियों से अपने सतीत्व की रक्षा में ''जौहर'' जैसी सर्वोच्च उत्सर्ग-भावना से देश के इतिहास को गौरवान्वित किया है। इसकी प्रेरणा उन्होंने इन्हीं देवियों के चरित्र से प्राप्त की है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं किया जा सकता है।

अन्य धर्मावलम्बी संस्कृतियां जहां तलाकों, विवाह विच्छेदों, अनैतिक यौनाचारों की बढ़ती महामारी से ग्रस्त होकर पाशविकता की ओर अग्रसर है, वहां भारत का रमणी समाज हमारी मौलिक सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित बनाये हुए है। इस सांस्कृतिक अपराजेयता और अक्षरता का श्रेय भी इन्हीं

देवियों के चरित्रों को है।

इतिहास प्रसिद्ध इन देवियों के चरित्र हमारे वांङ्मय के छोटे बड़े ।लियारों में बिखरे पड़े हैं। उन्हें चुनकर, यथावत संजोकर उनकी पवित्रता को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किये बिना मैने केवल सुसूत्रता और तारतम्यता के लिहाज से कल्पना का सहारा लिया है। क्योंकि युगों युगों की परिस्थितियों को उनकी सूक्ष्मता नष्ट किये बिना समाज के सन्मुख स्थूल रूप प्रदान करके सजीव और चलती-फिरती, हमारे-आपके समान बोलती व्यवहार करती आकृतियों में उकेरने के लिये कल्पना का यह सीमित प्रयोग अनिवार्य था। तो भी मैने सावधान रहकर इस प्रयोग को अनिवार्यता की लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन नहीं करने दिया है।

आशा है सहृदय पाठकगण मुझे इसके लिये उदारतापूर्वक क्षमा कर देंगे।

यदि इन दिव्य चरित्रों के अनुशीलन में पाठकवृन्द को रसपूर्ण अंतः-प्रेरणा प्राप्त हो सकी, तो मेरी लेखनी धन्यता का अनुभव करेगी। आज तो पाश्चात्य समाजों के संसर्ग से हमारे देश में भी तथाकथित अधिकारवाद और आधुनिकता के उत्साह ने समलैंगिक विवाहों और व्यभिचारों की विकृति का आयात करा दिया है। हमारे यहां के समाचार पत्रों में भी मातृ सुख से वंचित सहस्रों बच्चों में पनपती अपराध वृत्ति के आंकड़े भरे रहते हैं। मुट्ठी भर आधुनिकाओं की उच्छृंखलता हमारे सांस्कृतिक मूल्यों को क्षति न पहुंचा सके इस हेतु इस चरित्रनिधि को सुरक्षित रखते हुए उसका लाभ जनसामान्य तक व्यापक रूप से पहुंचाते हुए इनको कवचबद्ध रखने की आवश्यकता है। इन्हीं विचार सूत्रों ने मेरी लेखनी को प्रेरणा दी है। आशा करता हूं कि इस पुस्तक के प्रकाशन से उस दुष्प्रवृत्ति पर भी अंकुश लगाने में सहायता मिलेगी जो पाश्चात्य शिक्षा और फैशनों के माध्यम से हमारे इन पवित्र आख्यानों को कपोलकल्पित और ढकोसला मात्र करार देती है।

अन्त में उन विचारकों को और चिन्तक मनीषियों को मैं धन्यवाद देना चाहता हूं जिनके प्रभाव से मेरी लेखनी इस दिशा में प्रवाहित हो सकी है।

कृष्ण बिहारी - 'प्रणत'

८५, नई बस्ती,

झाँसी - २८४००१

१. सती भवानी

पुराणों का मणिमुकुट भूषित हेमवर्ण मेरु पर्वत वर्तमान में पामीर के नाम से जाना जाता है। जिसे दुनिया की छत भी कहते हैं। यही वह रमणीय स्थल है जहां पातिव्रत धर्म की अधिष्ठात्री देवी पार्वती का पूर्व जन्म हुआ था, अर्थात सती भवानी प्रादुर्भूत हुई थीं।

आज के संसार को इस पवित्र स्थान की सिर्फ भौगोलिक ऊंचाई का ही परिचय प्राप्त है। इसकी आध्यात्मिक महानता को शेष संसार क्या स्वयं भारत भी भुला बैठा है। आइये। उस दिव्य इतिहास का थोड़ा परिमार्जन करें और अपनी सम्पूर्ण चेतना के साथ उस दिव्य स्रोत में अवगाहन कर लें, जिसमें मानवता को देवत्व प्रदान करने की अपार क्षमता भरी हुई है।

दमकते हुए हिम शिखरों के चतुर्दिक सौगन्धिक नाम का महावन फैला हुआ था। इसी वन के मध्य में अलकापुरी थी। सर्वत्र कल, कल करती सदानीरा निर्मल धारायें अगणित रंगों के विविध पुष्प और पत्रावलियों वाले वृक्ष तथा लताएँ चित्त को ऐसा आकर्षित करती थी कि वह हठात् इनमें बन्दी हो जाता था और मुक्त होना नही चाहता था। प्रजापति दक्ष उस नगरी एवं क्षेत्र के अधिपति थे। यह बात तब की है जब धन के देवता कुबेर, वैश्रवण और उनके यक्षों का जन्म नही हुआ था। सती भी इन्ही दक्ष प्रजापति की द्वितीय सन्तान थी और महाराज मनु की पुत्री प्रसूति उनकी माता थी अश्विनी उनकी विमाता थी जिनके नाम पर चिनाब नदी का प्राचीन नाम अश्विनी था। अरून्धति, स्वधा, ऊर्जा, स्वाहा आदि छोटी-बडी बहिनों के साथ उनका बाल्यकाल और कैशोर्य अत्यन्त सुखमय बीता। दक्ष पुत्री होने के कारण ''दाक्षायिणी'' और सर्वाधिक

सुन्दरी होने के कारण उनका नाम ''त्रिपुर सुन्दरी'' भी था।

अलौकिक सौन्दर्य के निवास, हिमनिभ, नीलकण्ठ, भगवान त्रिनेत्र शंकर परम वैरागी थे। जिस-जिस वस्तु को संसार ने त्यागा, उस, उसको उन्होंने अपनाया और अपना आभूषण बनाया। भूत, प्रेत, प्रमथ, गुह्यक, झुटुंग आदि वन्य जीवों को भला भगवान शंकर के अतिरिक्त कौन शरण दे सकता था? श्मशान का निवास, चिता की भस्म और फुंकारते विषधरों को उनके अतिरिक्त भला कौन अपना सकता था? इन्हीं त्रिशूलधारी पिनाकपाणि महादेव शंकरजी के प्रति सती जी के मन में प्रारम्भ से ही गहरा अनुराग था जो तारूण्य के आगमन के साथ प्रणय में परिवर्तित हो गया। जब संसार की रक्षा के लिये उन्होंने समुद्र मंथन से उत्पन्न हलाहल को मन्द-मन्द मुसकराते हुए कण्ठस्थ कर लिया, तब तो सती ने उन्हें अपना जीवन सर्वस्व बना लिया। दक्षजी ने पुत्री का मनोभाव जानकर अपनी धर्मपत्नि से परामर्श किया। शंकरजी के विषपान एवं त्रिपुरासुर-वध के महान पराक्रम को देखकर वे उन पर मुग्ध तो पहले से ही थे। अतः उन्होंने अपनी भार्या की सहमति से अत्यन्त विनम्र भाव के साथ अपनी विनयशीला पुत्री सती का विवाह शंकरजी के साथ कर दिया।

अब सतीजी मेरू पर्वत की उपत्यका के दक्षिण पूर्व में कैलास पर्वत एवं मानसरोवर वाले विस्तीर्ण देश से नंदा और अलकनन्दा नाम की सरिताओं के संगम तटों तक इच्छानुसार विचरण किया करती थीं। और जब जब उनके पति लोक कल्याण के चिन्तन में समाधिस्थ रहते, तब तब वे प्रकृति की इस रम्यस्थली की शोभा और शैलमालाओं की आभा निरखते हुए उनकी गोद में अतीव सुख का अनुभव किया करती थीं। इस बीच एक घटना घट गई। जिसमें सतीजी की जीवनधारा में उथल-पुथल पैदा कर दी। एक बार भूत-भावन शंकर भगवान् और सती भवानी विन्ध्याचल के दक्षिण में दण्डकारण्य स्थित महर्षि अगस्त्य का आतिथ्य ग्रहण करके कैलास की ओर लौट रहे थे। वह त्रेतायुग था और परब्रह्म परमात्मा ने मर्यादा पुरूषोत्तम राम के रुप में अवतार लेकर मानव लीला रचा रखी थी।

राक्षस राज दशग्रीव रावण ने अपने मायावी मामा मारीच के सहयोग से गोदावरी तट पर राम के पंचवटी नामक आश्रम से जनकनन्दिनी सीता

का अपहरण कर लिया था और उनके वियोग में पागल की भांति विलाप करते हुए राम उनकी खोज में अनुज सहित भटक रहे थे। अतः शंकरजी ने गुप्त रहते हुए ही आकाश मार्ग से उन्हें ''जय सच्चिदानन्द प्रभो'' कहकर प्रणाम किया और आगे बढ़ गये। सतीजी को यह बात कदापि न सुहाई। भला जगत्पूज्य भगवान शंकर ने एक साधारण राजपुत्र को सच्चिदानन्द का सम्बोधन देकर प्रणाम क्यों किया? ऐसा करके तो उन्होंने अपनी व अपनी अर्धांगिनी दक्ष पुत्री सती की भी अवमानना कराई है। जिससे जगत् में उपहास ही होगा। उनसे न रहा गया, बोलीं ''प्रभो, आप अवश्य ही भंग के प्रभाव से प्रभावित हो गये हैं। तभी तो आपने साधारण मानव को परब्रह्म समझने की भूल की है। उनकी भ्रुकुटियां उपालम्भ के भाव से तिरछी होकर कुछ चढ़ गई थीं। उन्हें अपने पति की मोहग्रस्त सर्वज्ञता पर तरस आने लगा।

शंकर भगवान ने कुशल प्रवचनकार की भाँति समझाया ''देवी, मर्यादा पुरूषोत्तम राम मानव नहीं स्वयं परब्रह्म के मानवाकार ही हैं, जिनके त्रिगुणात्मक अंशभूत ब्रह्मा के साथ विष्णु और मैं सृजन-पालन-लय की उनकी त्रिगुणात्मिका सृष्टि का संचालन किया करता हूँ। सन्देह न करो देवी! परमात्मा की लीला ही कुछ ऐसी होती है कि जो क्षणभर में ही चित्त को भ्रमित कर डालती है। जब उन्होंने अपने सतोगुणी अंशभूत विष्णु की भूमिका से असुरों से अमृत कलश सुरक्षित छीनने के लिये मोहिनी रूप धारण किया था और मधुर लासनृत्य द्वारा असुरों को मोहित किया था, तब मैं नटराज होते हुए भी सब कुछ भूलकर उनकी माया से भ्रमित हो गया था और उनके पीछे प्रमत्त होकर दौड़ पड़ा था।''

''अच्छा तो इस दुर्बलता का आपके मन में दूसरी बार संचार हुआ है। धन्य है आप !! सचमुच में आप पूरे भोलानाथ हैं !!! पर मैं प्रजापति दक्ष की मेधा सम्पन्न आत्मजा हूं मैं नही मान सकती यह ढकोसला।'' सतीजी के स्वर में तीव्र व्यंग्य था।

''प्रिये ! ब्रह्मा के साकार स्वरूप पर सन्देह न करके उनके दर्शन से अपने आत्म ज्ञान को दृढ़ कर लो। मेधा सम्पन्न होने का अभिमान न करो।'' शंकरजी ने अध्यात्म की प्रस्थापना करते हुए सतीजी को मोहनिद्रा

से जगाने का प्रयास किया।

"आप ही करते रहें अपने आत्म बल को दृढ़। मुझे क्या लेना देना। मैं तो राम को प्रत्यक्ष मानव के रूप में देख रही हूँ। फिर अन्यथा क्यों सोचूं?" सतीजी का सन्देह मुखर ही होता गया।

"अच्छा देवी यदि राम का परमभाव नही देख पा रही हो, तो जाओ युक्तिपूर्वक परीक्षण कर डालो। सत्य की खोज में चिन्तन और परीक्षण का तो निरन्तर साथ है न? यही तो "नेति नेति" का तात्पर्य है। ऋषि महर्षि, भक्त, उपासक, दार्शनिक, योगी असीम प्रभु को सीमा में बांधने का प्रयत्न करते हैं और परीक्षण में असफल होकर 'नेति नेति' कह उठते हैं और परीक्षण के अगले पड़ाव की ओर बढ़ जाते हैं। तुम भी राम की पारलौकिक शक्तियों की युक्तिपूर्वक परीक्षा ले लो। जाओ मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर लूंगा। किन्तु सावधान! उनकी माया बडी प्रबल है।" शंकरजी को सतीजी की बाल बुद्धि पर तरस आ रहा था। उन्हें किसी अनिष्ट भवितव्य की आशंका होने लगी थी। परन्तु सतीजी का सन्देह शंकरजी के उपेदश से और प्रबल हो गया और वे बोलीं "आपका विश्वास तो जहां एक बार जम गया वहां जम कर ही रह जाता है। पर मैं अपने तर्कों से क्यों हार मान लूं? जाती हूं, पूरी परीक्षा करके ही अपने संशय को मिटाऊंगी।"

सतीजी तुनक कर राम की परीक्षा लेने के लिये पीछे लौट तो गईं, पर यकायक तय नही कर पार रही थीं कि कैसे और क्या परीक्षा ली जाये। अन्त में उन्होन सोचा कि मानव की सबसे बड़ी दुर्बलता है - काम। काम के वशीभूत जो व्यक्ति हो जावे उसकी दृष्टि में कामिनी के अतिरिक्त संसार में कुछ होता ही नही है। अतएव उन्होंने देवमाया का प्रयोग करके जनकनन्दिनी सीता का रूप धारण किया और राम लक्ष्मण जहां विचरण कर रहे थे, वन के उसी भाग में थोड़ी दूर पर "नाथ आप कहां है? आर्यपुत्र आप कहां है?" कहते हुए रूदन आरम्भ कर दिया।

उनके शब्द सुनकर लक्ष्मण ने इंगित किया और राम के साथ दौडे आये। पर यह क्या? समीप पहुंचकर राम ने नतमस्तक होकर कहा, "जय भवानी! मैं दशरथ पुत्र राम आपको सानुज प्रणाम करता हूं। भगवान

शंकर कहां अन्तर्ध्यान हो गये हैं? देवी, आप इस प्रकार कातर स्वरों में उन्हें क्यों बुला रही हैं?''

सतीजी के ऊपर मानो घड़ों पानी पड़ गया। यकायक कुछ कहते न बना, फिर बोलीं ''हां, वे मुझसे रूठकर आकाश तत्व में विलीन हो गये है।'' कहकर वे अगले ही क्षण तेजी से अन्य दिशा में चली गईं। लक्ष्मण आश्चर्य से नेत्र विस्फारित करके स्तम्भित रह गये। उन्हें एक क्षण तो अपनी भाभी जनकनन्दनी सीता ही दिखलाई पड़ीं और वे आह्लादित होकर बोलने ही वाले थे कि अगले क्षण ही सतीजी का रूप बदला हुआ दिखलाई दिया। उन्होंने समझा अवश्य ही उन्हें भ्रम हो गया होगा।

सतीजी राम, लक्ष्मण की ओर पीठ किये विपरीत दिशा में वेग पूर्वक बढती ही गईं। अचानक उन्हें अपने आगे जाते हुए राम, लक्ष्मण दोनों दिखलाई दिये। दिशाभ्रम समझकर पीछे मुड़कर वे पुनः आगे बढ़ीं। तो उधर भी दोनों भाई जाते हुए दिखलाई दिए। कई बार तो उनके मध्य में सीता भी दिखलाई दीं। ऐसा अनेक बार हुआ। वे चकरा गईं और घबराकर वहीं बैठ गईं तथा दोनों हाथों से आंखें मींच लीं। कुछ देर बाद नेत्र खोले तो चतुर्दिक निर्जन अरण्य के अतिरिक्त कुछ नहीं था। ऊहापोह में झूलती हुई भगवान शंकर के पास लौट आयीं। उन्होंने पूंछा ''देवी क्या परीक्षा ली और कैसे ली? बड़ी जल्दी परीक्षा ले ली। मुझे भी जिज्ञासा हो रही है''

सतीजी भला क्या बतलातीं? हड़बडाकर बोलीं ''गई तो थी परीक्षा लेने ही। पर पुनर्विचार करने पर मुझे लगा कि आप सर्वज्ञ, मूर्तिमान ज्ञान ही हैं। आप मुझसे अन्यथा क्यों कहेंगे? तो दूर से ही प्रणाम करके लौट आयी हूं। आपके साथ उन्हें प्रणाम नहीं किया था न?'' सतीजी का उत्तर सर्वथा अप्रत्याशित था। ओर उनके शब्द भी परस्पर टकरा रहे थे। शंकरजी ने मन एकाग्र करके एक क्षण चिन्तन किया और सतीजी द्वारा किये गये परीक्षा के उपक्रम को जान लिया। उन्हें यह ज्ञात करके मार्मिक पीड़ा हुई कि सतीजी ने सीता का रूप धारण करके मन से तो परस्त्री की भूमिका अपना ही ली है। अब देहान्तर के बिना उन्हें प्रिया के रूप में देखना तो पाप ही होगा। इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन्होंने बिना कुछ कहें मन से सती का त्याग कर दिया। तथापि मित्रवत् आत्मीयता का व्यवहार करते

रहे। अपनी चेष्टाओं और शिवजी की उदासीन प्रतिक्रियाओं से सतीजी को यह समझने में देर नही लगी कि पति की दृष्टि में अब उनका अर्धांगिनी स्वरूप समाप्त हो गया है। वे व्याकुल होकर अन्दर ही अन्दर घुटने लगीं। शंकरजी ने उनकी मनोव्यथा को कम करने के उद्‌देश्य से उन्हें अनेकानेक पौराणिक आख्यान सुनाये और अपने स्थान पर लौटकर लोकचिन्तन में लीन होकर समाधिस्थ हो गये।

* * * * * *

उक्त घटना के बाद लम्बी अवधि बीत गई। सतीजी को अपना जीवन भार स्वरूप लगने लगा। शंकरजी का पूर्व विश्वास प्राप्त करने का उन्हें कोई उपाय भी तो नहीं सूझ रहा था। अन्यमनस्क सी काल यापन करती रहीं।

एक दिन अचानक आकाश पथ पर कोलाहल सुनकर उन्होंने ऊपर दृष्टि घुमाई। देवांगनाएँ, विद्‌याधरियां, गंधर्वियां और किन्नरियां विमानों में नृत्यगान करती अपने अपने पतियों के साथ उत्तर में मेरू पर्वत की दिशा में चली जा रही थीं। कौतूहलवश वे बडी उतावली के साथ पतिदेव के समीप गईं। सौभाग्य से शंकरजी की समाधि अभी अभी खुली थी और उनके शान्त मुखमण्डल पर मन्द स्मित था। उनकी हिमधवल मुखाकृति अभी अभी खिले कुन्द पुष्प जैसी शौभायमान थी। चरणों में मस्तक टेकती हुई सतीजी के सिर को स्नेहपूर्वक स्पर्श करके शंकरजी ने उन्हें आसन ग्रहण करने के लिये कहा। सतीजी बैठते बैठते ही बोल उठीं "नाथ उधर गगन पथ पर उड़े जा रहे उन विमानों का कोलाहल तो आप सुन रहे है नं? कहां जा रहे हैं ये विमान?"

शंकरजी ने नितान्त शान्त वाणी में प्रति प्रश्न किया "देवी, क्या तुम्हें रमणीय धरती पर विहार की अपेक्षा गगन विहार अधिक आकर्षित कर रहा है?" वे सतीजी के कौतूहल की गहराई नापते हुए उनको स्थिर दृष्टि से देखने लगे।

"नही प्रभो! यह बात नही है। मुझे कौतूहल इस बात पर हो रहा है कि आज इतनी बडी संख्या में और इतने उत्साह के साथ गाते बजाते इन देवियों, गंधर्वियों, किन्नरियों और विद्‌याधरियों का तीव्र गमन अहे-

तुक नहीं हो सकता। आप सर्वज्ञ हैं, अर्न्तयामी हैं। बतलाइये भगवान् ये कहां और क्यों जा रही हैं?'' सतीजी के स्वर में स्पर्धा, अगंड़ाई ले उठी थी। जिज्ञासा की कुलबुलाहाट तो चरम बिन्दु पर थी ही। ''प्रिय, बहुधा दूसरों की गतिविधियों के सम्बन्ध में तटस्थ ही रहना चाहिए। संसार के प्राणियों को बहुविध कामनाएँ सदा ही आन्दोलित किया करती है''। शंकरजी ने निरपेक्ष भाव से कहा। ''पहेलियां न बुझाइये। नाथ, मुझे यह रहस्य शीघ्र ही बतलाइये। मेरे पितृगृह की ओर जाते हुए इस देव समूह को देखकर ऐसा लग रहा है कि वहां कोई समारोह अवश्य होने वाला है।'' सतीजी ने अपना अनुमान बतलाते हुए कहा

''देवी तुम्हारी मुखमुद्रा आज भी ठीक वैसी ही सन्देह प्रवण दिखलाई दे रही है जैसी उस दिन थी जब तुम अयोध्यानाथ रामचन्द्रजी की परीक्षा लेने के लिये गई थी।'' शंकरजी ने प्रसंग को टालने के उद्‌देश्य से विषयांतर करते हुए कहा। वे स्पष्ट रूप से भविष्य को पढ रहे थे कि सतीजी अनिष्ट की ओर खिंची जा रही हैं। सतीजी का चेहरा लज्जा के रंग में रंग गया। वे सोच रही थी कि भगवान राम के ईशत्व की परीक्षा के लिये सीता का रूप धारण करके उन्होंने मानसिक पाप किया है और पूरी बात पतिदेव को न बतलाकर उनके और अपने बीच में कपट की दीवार भी उन्होंने खडी कर ली है। शंकरजी के सहज परिहास में उन्हे व्यंग्य दिखलाई देने लगा। वे बिफर पडीं, ''तो यों कहिये न! कि मेरे उस दिन के अविश्वास से आप मन ही मन रूष्ट हैं और दुबारा कोई कथन करने से हिचकिचा रहे हैं। ! नाथ क्षमा करके मुझसे प्रसन्न होइये। आप तो आशुतोष है।''

शंकरजी ने देखा कि उनके शब्दों से सतीजी का मन चोट खा गया है। अतः वे अत्यन्त कोमल स्वर में बोले ''देवी क्या मैने तुम्हारे मन को ठेस पहुंचा दी है? तर्क बुद्धि तो होनी ही चाहिए। अन्धविश्वास की अपेक्षा अविश्वास अच्छा होता है। अपने संशय का समाधान पाये बिना अपनी तर्क बुद्धि को दबा देना तो एक प्रकार की हिंसा ही है। वास्तव में मैं इन विमानों के विषय में इसलिये कुछ बतलाना नहीं चाहता था कि जानकर तुम्हें पीडा पहुंचेगी। किन्तु अब सुनाये देता हूं। देवी, तुम्हारे पिता श्रीमान

दक्ष प्रजापति के यहां विशाल यज्ञानुष्ठान है। यह सब देवतागण सपत्नीक वहीं जा रहे हैं। मुझसे अप्रसन्न होने के कारण उन्होंने तुम्हें निमन्त्रित नहीं किया है!'' सतीजी को वास्तव में यह बात सुनकर मर्मान्तिक पीडा हुई। वे कम्पित स्वर में बोलीं '' यह तो मेरे पिता ने अक्षम्य अपराध किया है। उन्होंने आपका अपमान ही नहीं घोर तिरस्कार किया है। पर वे आपसे अप्रसन्न क्यों हैं वे तो आपके सदैव प्रशंसक रहे हैं''।

''प्रशंसक रहे तो हैं, पर अब नही हैं। वैसे कोई खास बात नही है प्रिय। हुआ यह कि जब ,वे मान्यवर दक्षजी को ब्रह्माजी ने प्रजापति का दायित्व सौंपा है, तब से उनको अहंकार हो गया है। विद्या, तप, धन, उच्च कुल ये सब पुरूषों के गुण होते हैं, पर नीच प्रवृत्ति वाले अंतःकरण में यही गुण अवगुण बनकर अहंकार की वृद्धि कर देते हैं। एक दिन वे ब्रह्माजी की सभा में कुछ देर से पधारे। ब्रह्मसभा की मर्यादा के अनुसार पितामह ब्रह्मा के अतिरिक्त विष्णु और मैने अन्य देवताओं की भांति उन्हें उठकर प्रणाम नहीं किया। मैने देख लिया था कि प्रवेश करते हुए उन्होंने आंखों के एक कोने से झांक्कर मेरी ओर देखा और मुंह फेरकर दूसरी ओर देखने लगे।'' शंकरजी निर्विकार भाव से सहज वाणी में कहे जा रहे थे।

''आप तो जगत्पूज्य हैं। प्रणाम तो उन्हें ही नतमस्तक होकर करना चाहिए था।'' सतीजी का स्वर वास्तव में आहत था।

''फिर भी मैने उनके व्यवहार को कोई महत्व नहीं दिया। किन्तु उन्होंने ढीठतापूर्वक मुझसे प्रश्न किया'' कहिये कैलाशपति। आपका श्वसुर होने के नाते यों भी आपका गुरूजन हूं। फिर प्रजापति होने के नाते क्या सहज शिष्टाचार को पाने के योग्य भी नही हूं मैं?''- प्रिय मुझे कपट और दम्भ से हार्दिक घृणा है। मैं प्रत्यक्ष विषधर को अपना सकता हूं। क्योंकि वह निष्कपट होता है। पर कपट भरे मन वाले किसी व्यक्ति को कभी क्षमा नही करता। मैने शान्त और सूक्ष्म उत्तर दिया ''पिताश्री ! प्रणाम देहाभिमानी व्यक्ति को नहीं, व्यक्ति के अनःकरण में निवास करने वाले अंतर्यामी वासुदेव को किया जाता है। आपके अंतःकरण में अहंकार छा गया है। अतः मेरी दृष्टि में आप प्रणाम के अधिकारी नहीं रहे।

''इतना कहकर मैं मौन हो गया।'' शंकरजी ऐसे निरपेक्ष भाव से सारा विवरण दे रहे थे मानो किसी अन्य के प्रति घटित तिरस्कार का वर्णन कर रहे हों। उनके नेत्रों में कहीं क्रोध का लेश भी नहीं था।

सतीजी बोलीं ''कितनी यथार्थ थी आपकी विवेचना। मेरे पिता को तत्काल आपसे क्षमा मांगनी चाहिए थी। परन्तु अशुद्ध मन से शुद्ध क्षमा याचना संभव ही नही होती।''

''यही बात है देवी, वे क्रोध से तमतमाते हुए अनर्गल, दुर्वाद उगलते रहे और जोर जोर से पांव पटकते हुए चले गये। बस, तब से आज तक दुबारा भेंट ही नहीं हुई। तुम्हें यह प्रसंग सुनकर नाहक पीडा पहुंचेगी, इसी कारण तुमसे कभी इसकी चर्चा नहीं की। प्रिये! बुरा तो नही मान गईं मेरे छिपाव से?'' शंकरजी बड़े मृदुल भाव से पूंछ रहे थे।

''नही प्रभो! बुरा तो मुझे पिता के व्यवहार से लगा है। जब तक उनसे प्रत्यक्ष उलाहना देकर उनकी दुंष्प्रवृत्ति की भर्त्सना नहीं करूंगी तब तक मुझे चैन नहीं मिलेगा। मेरे पत्नी धर्म और पुत्री धर्म दोनों ही मुझे पितृगृह की ओर हठात् धकेल रहे हैं। नाथ मुझे आज्ञा दीजिये कि मै तत्काल चली जाऊं''- सतीजी अत्यन्त उद्विग्न हो उठी थीं।

शंकरजी ने उपेदश दिया ''प्रिये! न तो तुम्हारा पत्नीधर्म उपेक्षित हो रहा है और न ही पुत्रीधर्म। तुम्हें मेरे अपमान का अतीव दुख है। और तुम अपने पिता के अपराध को अक्षम्य मानती हो, अतः तुम्हारे पत्नीधर्म का तो पूरा पूरा निर्वाह हो गया। जहां तक पुत्री धर्म की बात है, तो पिता गुरूजन है उनकी भूल उन्हें बतलाने का तुम्हारा दायित्व नही है। मैं भी उनके अहंकार की ओर कदापि इंगित न करता, यदि वे प्रजापति के पद पर न होते और सार्वजनिक रूप से प्रश्न न करते। उनके आचरण के लिये वे स्वयं ही उत्तरदायी होते। परन्तु सार्वजनिक दायित्व दुराचरण से दूषित हो जाता है और उच्छृंखलता को जन्म देता है। इसी कारण मुझे उनकी दो टूक समीक्षा करनी पडी। आवश्यकता तो दण्ड देने की भी थी, किन्तु मैने उपेक्षा कर देना ही श्रेयस्कर समझा। तुम पुरे प्रसंग को भुला दो और पूर्ववत् प्रसन्नता को धारण करो।''

''नहीं स्वामी। मैं पिता की देह से उत्पन्न हूँ। उनके दोष से मैं भी

प्रदूषित हूं। उनसे प्रायश्चित कराये बिना मेरे मन का प्रदूषण नही मिटेगा। मुझे आज्ञा दीजिये, नाथ। मैं एक बार उनसे साक्षात्कार अवश्य करूंगी।''
सतीजी के शब्दों में संकल्प की दृढता अधिक थी। मानसिक रूप से ही सही पति द्वारा अपने अमुखर त्याग की असह्य पीडा ने उनके संकल्प को वज्र जैसा बना दिया।

''देवि। तुम्हें अनाहूत वहां जाकर और अधिक अपमानित होना पडेगा। मै तुम्हें अपमान के उस अग्निकुण्ड में नही गिरने दूंगा।'' त्रिकालदर्शी भगवान शंकर ने सतीजी के भवितव्य की ओर स्पष्ट संकेत करते हुए कहा।

किन्तु सतीजी का संकल्प अटूट था। यंत्र चालित की भांति उन्होंने पति के श्री चरणों में प्रणाम निवेदित किया और अपनी दिव्यशक्ति का स्मरणकर पवन वेग से पितृगृह की ओर आकाश मार्ग से प्रस्थान किया। सतीजी के इस प्रकार क्रोधावेश में एकाकी चले जाने से शंकरजी को अनिष्ट की सम्भावना हुई और उनकी रक्षा हेतु उन्होंने कुछ गणों को पीछे पीछे जाने का आदेश दिया।

* * * * * *

मेरू पर्वत के सघन वन्य प्रान्त के मध्य में सहस्रों देवर्षियों द्वारा किये जा रहे मंत्रोच्चारण एवं स्वाहाः का लयबद्ध कर्णप्रिय संगीत गूंज रहा था। स्वर लहरियां होम कुण्डों से उठती हुई धुएँ की लहरों के साथ अठखेलियां करती प्रतीत होती थीं। यज्ञ मण्डपों से कुछ हट कर सतीजी की माता एवं बहनें देवांगनाओं के साथ मंगलगान कर रही थीं। सतीजी को अचानक आया हुआ देखकर उनकी माता प्रसूति ने बहुत काल से बिछुड़ी हुई अपनी पुत्री का स्वागत किया और उसे हृदय से लगाकर गद्गद् हो गईं। विमाता अश्किनी ने भी उनका सम्मान किया। देवी अरुन्धति, स्वाहाः और ख्याति के अतिरिक्त उनकी अन्य बहनें मेधा, प्रात, क्षमा, मूर्ति और ऊर्जा आदि ने व्यंग्य दृष्टि से देखते हुए उनका औपचारिक अभिवादन किया। सतीजी ने देखा कि उनके पिता वसिष्ठ, भृगु, दधीचि, अङ्गिरा, पुलह और पुलस्त्य आदि अपने सभी जामाताओं के साथ अत्यन्त आदर एवं विनम्रतापूर्वक वार्तालाप में व्यस्त थे। वे उनकी ओर कनखियों से देख

देखकर भी अनदेखा करते रहे। उनके दम्भ और अहंकार से उद्विग्न होकर सतीजी उनके सम्मुख जा खड़ी हुईं। जब उपस्थित देवर्षियों ने भवानी को प्रणाम किया, तब दक्ष ने भी कुटिल अट्टहास के साथ उन्हें सम्बोधित किया, "बेटी सती, तूने अपने उस अर्द्ध विक्षिप्त पति को साथ न लाकर और स्वयमेव यज्ञ में पधारकर मेरी प्रसन्नता अर्जित कर ली है। बोल मेरी लाड़ली मैं तेरा क्या प्रिय करूं?" सतीजी की दहकते अग्निकुण्डों जैसी रोषपूर्ण आखों में मानो घी की धार जा गिरी। वे दीर्घ श्वास छोड़ती हुई, हुंकार भरती हुई घनघनाती हुई आवाज में गर्जीं " हे मूर्ख पिता, मैं तुम्हारे पशुवत् व्यवहार से बहुत क्षुब्ध हूं। तुमने देवाधिदेव महादेव का अपमान करके वास्तव में आकाश की ओर मुँह करके थूका है। इस कुकृत्य से भले ही तुम्हारा अहंकार और द्वेष फूल उठा हो, किन्तु वास्तव में तुम सार्वजनिक निन्दा और धिक्कार के पात्र बन गये हो। पर तुम्हें तो समझाना भी वैसे ही व्यर्थ होगा जैसे - ठण्डी राख में डाली हुई आहुति व्यर्थ हो जाती है। तुम्हारी पापीयसी देह से उत्पन्न मेरा शरीर अब भगवान शंकर के उपयुक्त नहीं रह गया है। और मैं अगले जन्म में पुनः उन्हें पति रूप में प्राप्त करने का संकल्प लेकर आत्मदाह करती हूं। समस्त उपस्थित देवता एवं देवर्षिगण और समस्त दिशाओं के स्वामी मेरे इस बलिदान के साक्षी हों।" इन शब्दों को गुंजाते हुए यज्ञ वेदिका पर चढ़कर भगवती सती ने सबके देखते देखते आत्मदाह कर लिया और सारे अपवाद के कलुष अग्निधूम में विसर्जित करके दीप्त अग्निशिखा के समान ऊर्ध्वगामी होकर आकाश में विलीन हो गईं। जलते हुए जो प्रार्थना उनके मुख से स्फुरित हुई वह इस प्रकार थी "ऐ नाथ। है त्रिपुरारी, हे करूणामय, हे चन्द्रमौलि मेरे अन्तःकरण में पिता से संक्रमित होकर आये अहंकार, सन्देह, कुतर्क आदि ने मुझे आपसे वियुक्त कर दिया है। नाथ, मुझे क्षमा करना। अगले जन्म में मैं अपनी वर्तमान दोषबुद्धि से नहीं अपितु श्रद्धा, समर्पण और तप से ही आपको पुनः प्राप्त करूंगी। हे विश्वासमूर्ति। मेरे विश्वास को सफल करना प्रभो! ओम् नमः शिवाय"

सभी देवगण, गंधर्व, किन्नर, देवर्षि और उनकी पत्नियां इस दृश्य को देखकर स्तम्भित रह गईं। मानो भयंकर स्वप्न देखकर कोई यकायक

हड़बड़ाकर उठ बैठे और विस्फारित नेत्रों से मूढ की भांति चतुर्दिक घूरता रहे। सतीजी के पीछे जो गण शंकरजी ने भेजे थे, वे सतीजी का आत्मदाह देखकर आपे से बाहर हो गये और यज्ञ कलश, यज्ञ यूप आदि को तहस नहस करने लगे। महर्षि भृगु ने उनके उपद्रव से यज्ञ की रक्षा की। किन्तु गणों से समस्त वृत्तांत जानकर त्रिनेत्र भगवान शंकर कुपित हो गये और दक्ष को समुचितं दण्ड देने के लिये उन्होंने अपनी जटाओं से वीरभ्रद्र को उत्पन्न करके उन्हें यज्ञस्थल की ओर भेजा। वीरभ्रद्र ने यज्ञ का विध्वंस कर दिया। और शंकर जी के करार त्रिशूल से दक्ष प्रजापति का सिर धड़ से पृथक करके ले जाकर शंकरजी के चरणों में डाल दिया।

सतीजी की माता ने आर्तनाद करते हुए त्रिलोचन भगवान शंकर से अपने पति के अपराध के लिये क्षमा मांगी तथा अपने सुहाग की भीख मांगी। आशुतोष भगवान ने द्रवित होकर अपने श्वसुर प्रजापति दक्ष को जीवित तो कर दिया किन्तु उन्हें अजमुख (बकरे का मुख) प्रदान कर मानो उन्हें पशु के रूप में जीवन धारण करने का दण्ड दिया।

बाद में यज्ञ स्थल पर जाकर वे अपनी प्रिया सती के प्राणत्याग से विह्वल होकर क्रोध और शोक के समवेत आवेगों से मानो उन्मत्त हो गये और भवानी की मृत देह को बांयें कन्धे पर उठाये दाहिने हाथ में सर्वान्तक त्रिशूल लेकर चक्र की भांति दौडने लगे। असमय ही प्रलय उपस्थित हुआ देखकर जगतपालक भगवान विष्णु ने शंकरजी के पीछे पीछे दौडते हुए अपने चक्र से सती के मृत शरीर के टुकडे कर दिये। शंकरजी के भ्रमण पथ में सती भवानी के शव के टुकड़े यत्र-तत्र गिरे और जहां जहां वे गिरें वही वही भवानी के शक्ति पीठ स्थापित हैं। कामरूप (असम) में कामाख्या देवी, काशी में अन्नपूर्णा देवी, हिमांचल प्रदेश में ज्वालादेवी, विंध्याचल के पूर्वांचल पर विन्ध्यवासिनी देवी, बलुचिस्तान (पाकिस्तान) में हिंगुलाज की देवी, कौशल में देवी पाटन आदि जितने शक्तिपीठ हैं उन सभी स्थानों पर कोटिकोटि भक्तगण माताजी की पूजा अर्चना करते हुए मनोवांछित फल प्राप्त करते हैं।

यह है पातिव्रत और नारिधर्म की अधिष्ठात्री देवी हिमाद्रि कन्या उमा भवानी के पूर्व जन्म की अर्थात् सतीजी के दिव्य बलिदान की गाथा।

२. वसिष्ठ पत्नी देवी अरुन्धति

देवी अरुन्धति भी दक्ष प्रजापति की सातवीं पुत्री और सती भवानी की छोटी बहिन थीं। उनके पति महर्षि वसिष्ठ सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी के मानस पुत्र थे। ब्रह्माजी के संकल्प मात्र से उनके प्राणों से वसिष्ठ जी का प्राकट्य हुआ था। वे समस्त देवर्षियों और महर्षियों के मण्डल में सर्वाधिक तपोनिधान और तेजस्वी थे। सूर्य पुत्र मनु महाराज के महान वंश के कुल पुरोहित होने के नाते और उस वंश में मर्यादा पुरूषोत्तम राम के अवतरित होने पर उनके गुरू होने के कारण वे इतिहास में बहु चर्चित रहे हैं। ''योगवासिष्ठ'' जैसे वेदान्त ज्ञान से परिपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता श्री वसिष्ठजी ने भारत को महान देन दी है। उनके अति तेजस्वी व्यक्तित्व के सान्निध्य में उनकी धर्मपत्नी देवी अरुन्धति उनके समान बहुचर्चित न होते हुए भी उन्हीं के समान समाद्रित हुई हैं। और इसी कारण सप्तऋषि मण्डल के जिस छठवें नक्षत्र का नामकरण वसिष्ठजी के नाम से हुआ है उसी के समीप चमकते हुए मण्डल के नक्षत्र का नामकरण देवी अरुन्धति के नाम से किया गया है। और नवविवाहित युगल सदैव से ध्रुव दर्शन के साथ अरुन्धति दर्शन भी किया करते हैं। मानो वसिष्ठ और अरुन्धति के आदर्श दाम्पत्य का ध्रुव की भांति चिरकाल तक सुख प्राप्त करने का आशीर्वाद वे उक्त दोनों नक्षत्रों से प्राप्त किया करते हैं।

काम और क्रोध नामक जिन मनोविकारों को अन्य देवता तो क्या स्वयं ब्रह्माजी और शिवजी भी नही जीत सके। वे दोनों मनोविकार वसिष्ठ जी की चरण सेवा किया करते हैं और उनको वश में कर लेने के कारण ही इन महर्षि का नाम वसिष्ठ हुआ। तथापि यह बात बहुत कम उजागर

हूई है कि वसिष्ठजी की इस महत्ता का पूरा पूरा श्रेय देवी अरुन्धति को ही है। जैसा कि हमें उनके इस पुनीत आख्यान से विदित हो जावेगा।

मेरू के दक्षिण में और हिमालय के पश्चिमी अंचल में जहां सतलज और व्यास का उद्‌गम है और जो क्षेत्र आजकल हिमांचल प्रदेश के रूप में जाना जाता है, वहीं के रमणीक सघन वन में वसिष्ठजी का प्रथम आश्रम था। यही नहीं तो उक्त दोनों नदियों के मौलिक नाम, ''शतद्रू'' और ''विपाशा'' भी वसिष्ठजी के जीवन प्रसंगों से जुड़े हुए हैं। आइये इन तथा अन्य प्रसंगों की जानकारी हम उनके और उनकी धर्मपत्नी देवी अरुन्धति के बीच हुए इस वार्तालाप से प्राप्त करें।

अग्निहोत्र समाप्त करके वसिष्ठजी उठे नहीं थे। और वेदिका के पश्चिम पार्श्व में अभी कुशों पर बिछे मृगचर्म और उस पर फैले श्वेत चैल पर ही आसीन थे। अपने पति को अवकाश की स्थिति में देखकर उनके समीप आकर बैठते हुए देवी अरुन्धति ने मन्द हास्य बिखेरते हुए उनसे प्रश्न किया। ''हे स्वामी ऋषिगण आपको बहुधा ब्रह्मा पुत्र के नाम से ही सम्बोधित किया करते है, पर कभी कभी मैने उनके मुख से आपके प्रति ''वरूणनन्दन'' का संबोधन भी सुना है। मै इसी का रहस्य जानना चाहती हूं। यदि प्रश्न को अनुचित और रहस्य को गोपनीय न माने तो बतलाने की कृपा करें।''

''प्रिये! न तो तुम्हारा प्रश्न अनुचित ही है और न ही प्रसंग गोपनीय है। वैसे भी मेरी कोई बात तुम्हारे लिये गोपनीय हो ही नहीं सकती। प्रसंग नही उठा, इसी से इसकी चर्चा नहीं हुई। समस्त लोकों में मुझें ''जितकाम'', ''जित-क्रोध'' और ''क्षमा-मूर्ति'' आदि विशेषणों से सम्मानित किया जाता है। इस सम्मान का पुरा पुरा श्रेय तुम्हें ही है।'' वसिष्ठजी ने पद्मासन से स्वस्तिकासन में स्थित होते हुए कहा। जब कभी लम्बा प्रवचन करना होता था तब वे इसी आसन में स्थित हो जाते थे।

''है नाथ कहीं आप मेरी प्रशंसा आरम्भ करके मेरे प्रश्न को विषयांतरित तो नहीं कर रहे हैं।'' अरून्धति ने परिहासपूर्ण कटाक्ष किया।

''नहीं, नहीं, प्रिये। यह बात नहीं है। मुझे अक्रोध और अकाम की

साधना में तुम्हारा महान सहयोग मिला है, इस बात को भला मुझसे अधिक और कौन जान सकता है? मै पूर्व में पितामह ब्रह्माजी का मानसपुत्र था तथापि मुझमें क्रोध की प्रबलता थी। तब मैं "आपव" के नाम से विख्यात था।, "महर्षि वसिष्ठजी ने पूर्व कथा का उपक्रम करते हुए कहा।

"प्रभो! आपका यह नाम भी में पहली बार सुन रही हूं। कभी किसी ने भी आपसे इस नाम का उल्लेख नही किया है"।

"यही बांत है देवि। उस काल में महाराज इक्ष्वाकु के अनुज वीरवर पृषध्र आश्रम की गायों की रक्षार्थ नियुक्त थे। एक बार मध्य रात्रि के समय पृषध्र की आंख लग गई और दैवयोग से उसी समय एक सिंह गोष्ठ में प्रवेश कर गया। उसके द्वारा एक गाय को दबोच लिये जाने से सभी गायें एक साथ रंभाने व उठने गिरने लगीं। इन आवाजों से पृषध्र जाग गये और हड़बड़ी में तलवार उठाकर गोष्ठ में घुस गये। अंधकार के कारण उनके हाथों भूल से उस गाय का ही सिर कट गया जिसे सिंह ने पकड रखा था। सिंह का भी एक कान कट गया और वह खून टपकाता हुआ भयभीत होकर जंगल में भाग गया। प्रातःकाल जब मैने मृत गाय देखी तो आग बबूला हो गया। पुषध्र की इतनी भूल तो अवश्य ही थी कि वे निद्रालीन हो गये थे, वैसे थे तो वे निरपराधी ही। तो भी मैने क्रोधावेश में उन्हें शूद्र हो जाने का शाप दे डाला। गुरु सेवा में वह राजपुत्र निष्ठापूर्वक तत्पर थे। उन्होंने शांतभाव से सिर झुकाकर शाप को अंगीकृत किया। उनके अक्रोध और अपनी क्रोधान्धता की तुलना करने पर मुझे अपनी पराजय स्पष्ट दिखलाई दी। मैं पीड़ा से भर उठा, पर जो घट गया था वह तो घट ही चुका था। उसे लौटाया तो नहीं जा सकता था न?" वसिष्ठ जी के स्वर में पश्चाताप झलकने लगा।

"आर्यपुत्र, आपका क्रोध सर्वथा निराधार तो नहीं था, पुषध्र से प्रमाद तो हुआ ही था" अरुन्धति ने सहानुभूति दर्शाते हुए कहा।"

नहीं प्रिये! ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण को क्षमाशील और सहिष्णु होना चाहिए-

'क्षत्रियानां बलं तेजो, ब्राह्म्मणनां क्षमाबलम्'- ऐसा ही एक और

प्रसंग सुनो। महर्षि कश्यप ने अपनी भार्या सुरभि के गर्भ से एक तपोमय गऊ उत्पन्न की और होमधेनु के रूप में मुझे दे दी।''

''क्या अपनी नन्दिनी गौ वही गौ है जिसे देवी सुरभि ने जना था?'' अरुन्धति को बड़ा विस्मय हुआ। वसिष्ठजी ने वर्णन आगे बढ़ाया, ''हां देवी, अपनी नन्दिनी ही वह गौ है। साक्षात् तपोमूर्ति इस गौ का दूध अजरामर कर देने की शक्ति रखता है। अतः द्यौः नामक वसु को अपनी पत्नी से यह रहस्य ज्ञात हुआ। द्यौः ने अपनी प्रेयसी 'उशीनर पुत्री जितवती' को अजमरामर बनाना चाहा और मुझसे नन्दिनी की याचना की। मेरे द्वारा मना करने पर वह अपने अन्य सातों वसुओं के साथ उसका अपहरण करके बलपूर्वक ले जाने लगा। बस, मैं क्रोध के वशीभूत होकर आपे से बाहर हो गया और आठों को शाप दे दिया। जिसके अनुसार आगे चलकर द्वापर में द्यौ : को भीष्मव्रती गंगापुत्र देवव्रत बनकर जन्म लेना पड़ेगा। और शेष वसुओं को भी गंगा के गर्भ से,जन्म लेते ही जलधारा में प्रवाहित होकर मरना पडेगा''

''हां नाथ यह तो आपने आवश्यकता से अधिक दण्ड दे दिया'', अरुन्धति ने बेबाक टिप्पणी की। ''देवि, मेरा क्रोध मुझे क्षण भर में अनियन्त्रित कर देता था। मै इस मनोविकार पर काबू नही कर पाता था'', वसिष्ठ ने आत्म विश्लेषण करते हुए कहा। ''पर आर्यपुत्र आपकी सिद्धियां तो विलक्षण हैं। आपने ही बतलाया था कि एक बार जब महाराज मनु को अपने पुत्र हेतु यज्ञ करवाना था, तब उनकी भामिनी श्रद्धा की इच्छा से मुख्य होता ने विपरीत संकल्प के साथ आहुतियां दी थीं और पुत्र के स्थान पर इला नाम की पुत्री जन्मी थी, जिसे आपने सुद्युम्न नाम का पुत्र बना दिया था। अद्भुत है आपकी तप शक्ति।'' अरुन्धति ने अपने पति के तेज-प्रदीप्त मुखमण्डल की ओर गर्व के साथ दृष्टि डालते हुए कहा।

पूरा प्रसंग याद करके वसिष्ठजी को सहसा जोर की हंसी आ गई। वे ठहाका लगाकर बोले, ''पर ईश्वर का विचित्र कर्म विधान तो देखो - सुद्युम्न सौगन्धिक वन में पहुंचकर पुनः स्त्री हो गया और पुरुरवा नाम के पुत्र को भी उसने अपने गर्भ से जन्म दिया।''

''हां नाथ आगे बतलाइये कि आप वरूणनन्दन किस प्रकार

कहलाये। ''अरुन्धति ने पति को मूल प्रसंग की याद दिलाई।

''शुभे! उसी प्रसंग की और बढ रहा हूं मैं। सुनो, एक बार मैने इन्द्र के यज्ञ में पुरोहित बनने का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। ठीक तभी महाराज निमि भी अपने यज्ञ के लिये मुझे पुरोहित के रूप में वरण करने के लिये आ गये। अपनी असमर्थता समझाते हुए मैने उनसे प्रतीक्षा करने के लिये कहा और वे सन्तुष्ट होकर चले गये। किन्तु बाद में उन्होंने उतावली में आकर किसी अन्य ऋषि के पौरोहित्व में यज्ञ आरम्भ कर दिया। फिर क्या था। मैने आव देख न ताव जाकर उन्हें फटकारा और तुरन्त शरीरपात् का उन्हें शाप दे दिया।''

''स्वामी! आपने तो उनसे भी अधिक उतावली दिखलाई और महाराज निमि को इतना बडा शाप दे डाला। भला इसमे आपका अपमान तो उन्होंने किया नही था।'' अरुन्धति ने न्याय की तुला पर घटना को तौल ही दिया।

''वही तो प्रिये, मुझे बाद में स्वयं बडी ग्लानि हुई। उन राजर्षि ने शाप के वशीभूत तुरन्त देह त्याग दी और ऐसा करते हुए मुझे भी शरीरपात् का शाप दे दिया। उन्होंने तो पुनर्जन्म नहीं लिया और सूक्ष्म देह से ही अमर होकर मानवों के नेत्र कपाटों पर निवास बना लिया''। वसिष्ठजी का मन निमि के प्रति श्रद्धा से झुक गया। देवी अरुन्धति को भी महाराज निमि के प्रति प्रशंसा का अनुभव हुआ। उन्होंने पूछा ''प्रभो! क्या पलक के गिरने उठने का सूक्ष्मकाल खण्ड इन्ही महाराज निमि के कारण निमिष नाम से पुकारा जाता है?''

''यथार्थ है देवी!'' वसिष्ठ ने कहा ''और यहीं मेरा प्रसंग समाप्ति पर आता है। मैने भी निमि के शाप से प्रभावित होकर अपनी देह त्याग दी और संकल्प के कारण मित्रावरूणजी के द्वारा देवांगना उर्वशी के गर्भ से मेरा द्वितीय जन्म हुआ और इसीलिये में वरूणनन्दन कहलाता हूं।''

इसी के साथ अरून्धति के मन में एक और प्रश्न कुलबुलाने लगा, ''मैं जानना चाहती हूं नाथ कि क्या आपके शक्ति आदि पुत्र जो मेरे पूर्व देवी ऊर्जा के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं वे आपके पूर्व जन्म की संतान तो हैं नहीं न जबकि आप क्रोधी स्वाभाव के थे ? फिर भी वे परमक्रोधी और

उग्र क्यों है?''

''शुभे! मेरे और ऊर्जा के इन पुत्रों का लालन पालन तो तुम्हारे वात्सल्य की छाया में ही हुआ है। किन्तु तुम्हारे सातों अपने पुत्र - चित्रकेतू, उल्वण, सुरोचि, विरजा, मित्र, द्युमान और वसुभृद्यान विशुद्ध चित्त ब्रह्मर्षि हैं और ऊर्जा पुत्रों में जन्मजात अंतर बना हुआ है। इसी कारण तो मैं कहता हूं कि तुम्हारे सौम्य, सहिष्णु और प्रशान्त स्वभाव के कारण ही तुम्हारे पुत्रों में निर्वैर और विशुद्ध अहिंसा के दर्शन होते हैं और इस जीवन में मेरी अक्रोध, क्षमाशीलता और सहिष्णुता आदि सद्वृत्तियों के मूल में भी तुम्हारा संयमपूर्ण व्यक्तित्व ही परोक्ष रूप में कारण बना है।'' अरुन्धति ने विनम्रता से शीश झुकाकर पति की गुणग्राहकता को सराहा। वे उठीं और पति के चरणों में प्रणाम करके गृहचर्या में लग गईं।

*　　*　　*　　*　　*　　*

कुशिकवंशीय गाधिनन्दन विश्वामित्र एक बार कान्यकुब्ज के महावन में मृगया करते करते दीर्घ काल तक अश्वारोहण के कारण थके मांदे वसिष्ठजी के आश्रम में आ गये। वसिष्ठ जी से अर्घ्य पादादि सत्कार और तृप्तिदायक, भोजन, विश्राम पाकर उनसे विदा मांगने लगे। तब महर्षि ने पूंछा ''राजन् आपका यथोचित भोजनादि तो हुआ है न? धन्य है आपका धैर्य और पराक्रम। इतने विशाल और सघन वन को मृगया हेतु आप एकाकी पार कर लेते हैं।'' वसिष्ठ यह जानना चाहते थे कि उनके अतिथि के साथ कोई और राजपुरूष तो पीछे नहीं छूट गये थे।

विश्वामित्र ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया, ''ऋषिवर मेरे साथ मंत्री, सचिव आदि अनेक भृत्यों के साथ विशाल सेना भी आई थी। वे सभी मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। अतः मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं लौटकर उनकी दुश्चिंता मिटा सकूं।''

''ऐसा कैसे हो सकता है राजन्? आपके साथ जो भी इस वन में पधारे हैं सभी आज मेरे सम्मान्य अतिथि हैं। कृपया उन्हें आ जाने दीजिये और मेरा आतिथ्य ग्रहण करने दीजिए।'' वसिष्ठ जी ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहा।

विश्वामित्र वसिष्ठजी की सिद्धियों से तो भली प्रकार परिचित थे।

तथापि उनके मन में अभिमान अंगडाई लेने लगा। वे आश्चर्य व्यक्त करते हुए व्यंग्य के साथ बोले "महर्षि आपको कोटिशः धन्यवाद। आपने आतिथ्य के लिये निमन्त्रण दिया, मात्र इतने से ही मैं अनुग्रहीत हो गया हूं। किन्तु आपके आश्रम के स्वल्प साधनों पर अपनी विशाल सेना का बोझ मैं कदापि नहीं डालूंगा। अतः मुझे आज्ञा दीजिये"। वसिष्ठजी विश्वामित्र जैसे प्रख्यात राजा का अतिथि सत्कार करके पुण्य बटोरना चाहते थे। अतः बोले "नहीं, नहीं महाराज, अल्प साधनों की कोई बात नहीं है। मेरी भार्या देवी अरुन्धति अपार क्षमतावती है और नन्दिनी गौ की कृपा से आप सभी का यथोचित स्वागत सत्कार होगा। आप संकोच न करें और विश्राम करें।"

विश्वामित्र ने गर्व के साथ अधर चबाये और मौन होकर विश्राम करने चले गये। बाद में जब उन्होंने अपनी विशाल सेना के साथ अपना यथेष्ठ और तृप्तिदायक स्वागत सत्कार का आयोजन देखा तो वे आश्चर्य के साथ दांतों तले उंगली दबाने लगे। नन्दिनी की अमित शक्तियों का परिचय पाकर वे उस पर लट्टू हो गये। उनकी दृष्टि में उनका मनोगत पढ़ते हुए वसिष्ठजी ने कहा, "राजन् आश्चर्य न करें। नन्दिनी साधारण गौ नहीं है। तपोधन महर्षि कश्यप की तपोपूत दुहिता है जो लोक कल्याण हेतु गौ के रूप में प्रकट हुई है।" वसिष्ठ जी के वर्णन से विश्वामित्र की ईर्ष्या बलवती हो गई। "विप्रवर ऐसी श्रेष्ठ क्षमता वाली गौ तो मेरे जैसे राजा के लिये उपयुक्त है। भला आप लोगों के आश्रम में इसका उपयोग ही क्या है। इसे आप मुझको दे दीजिये और बदले में लाखों से लेकर अर्बुद तक जितनी गायें चाहें, उतनी मांग लीजिये।" विश्वामित्र की लोभ, अभिमान और दर्प से भरी हुई शब्दावली सुनकर वसिष्ठजी को बडी पीड़ा हुई। वे शान्त वाणी में उन्हें उपदेश करते हुए बोले, "राजन्, नन्दिनी मात्र गौ नहीं है। इसकी क्षमताएँ तप से उत्पन्न हैं। और अलोभ की छाया में ही बनी रह सकेंगी। जो आपके संरक्षण में कदापि सम्भव नहीं है और सबसे बड़ी बात यह है कि देवी अरुन्धति को इसके प्रति असीम वात्सल्य है। यह हमारी पुत्री जैसी ही है। अतः मैं इसे कदापि नहीं दे सकता।"

"महर्षि वसिष्ठ! मैं इसे तो अवश्य ले जाऊँगा" 'विश्वामित्र के मन

में उनकी जगत् विख्यात महत्वाकांक्षा पूरी ऊँचाई के साथ उठ्कर खडी हो गई। वे वसिष्ठ को मौन किन्तु अडिग देखकर क्रोध के साथ बोले "मूर्खता न करो ब्रह्मर्षि, मैं आप जैसा ब्राह्मण नहीं हूं। क्षत्रिय हूं और राजा भी हूं। मैं नन्दिनी को बलपूर्वक हांक ले जा सकता हूं। (क्षत्रियोऽस्मि न विप्रोऽहम् तस्माद् भुज बलेनेमां हरिष्यामहि पश्यतः।)"

वसिष्ठजी कुछ कहें इसके पूर्व ही लताच्छादित कुटी द्वार से बाहर आते हुए देवी अरुन्धति गम्भीर वाणी में बोलीं, "आप मेरे पति का अपमान न करें। जो करना चाहें अवश्य कर डालें, देर क्यों कर रहे है?" इन शब्दों के साथ वे नन्दिनी के समीप जा खड़ी हुईं और उसके मस्तक पर शक्तिपात् करती हुई साक्षात् सिंह वाहिनी दुर्गा ही प्रतीत हुईं।

विश्वामित्र ने अपने सैनिकों को आज्ञा दी और वे नन्दिनी को बांधने के लिये आगे बढ़े। वसिष्ठजी के शान्त नेत्रों में क्रोध की क्षीण रेखा भी नहीं थी। पर देवी अरुन्धति ने नन्दिनी के माथे पर पुनः हाथ फेरा और संकल्प मंत्र पढ़ते हुए अपनी तपः शक्ति भी उसे प्रदान कर दी। उसी क्षण सबने आश्चर्य से देखा कि जिस ओर नन्दिनी अपना मुंह उठाकर रंभाती थी, उसी दिशा से सहस्रों किरात, शबर और खस अस्त्र-शस्त्र लिये दौड़े चले आते थे। देखते- देखते ही उन वन्य वीरों ने बिना किसी के प्राण लिये विश्वामित्र की सेना को खदेड़ दिया। विश्वामित्र विस्फारित नेत्रों से यह दृश्य देख रहे थे। साथ ही उन्हें क्रोध भी अत्यधिक आया और उन्होंने वसिष्ठ जी के ऊपर अभिमन्त्रित अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग भी आरम्भ कर दिया। वसिष्ठजी ने अविचलित दृढ़ता के साथ अपनी छड़ी को ब्रह्म तेज से युक्त करते हुए उसे हिलाकर ही विश्वामित्र के अस्त्र शस्त्रों की वर्षा का निवारण कर दिया।

"ब्रह्मशक्ति प्रयुक्तया यष्ट्या निवारयामास"

विफल मनोरथ होने के कारण विश्वामित्र बहुत कुपित हुए और उन्होंने वसिष्ठ पर दिव्यास्त्रों को भी छोड़ दिया। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के हाथ के छोटे से ब्रह्मदण्ड से किरणों का समूह विकरित हुआ। और विश्वामित्र के संसार को कंपाने और नष्ट कर सकने वाले समस्त ब्रह्मास्त्र निस्तेज और शांत हो गये।

अंत में वे ''धिग्बलं क्षत्रियबलं, ब्रह्मतेजो बलं बलम्'' कहते हुए पलायन कर गये। किन्तु प्रतिज्ञा करके गये कि वे ब्रह्म बल प्राप्त करके पुनः लौटेंगे और अपना मनोरथ पूर्ण करके ही रहेंगें।

देवी अरुन्धति अपने पतिदेव का चरणवन्दन करती हुई कह रही थीं, ''स्वामी आप धन्य हैं। क्षमा के अनन्त स्रोत ही है आप !! दण्ड देने की इतनी प्रबल शक्ति होते हुए भी आपने दर्पाभिभूत गाधि नन्दन से एक भी क्रोधयुक्त शब्द नहीं कहा।''

पुनः अपनी पूर्व मुद्रा में आसनासीन होते हुए शान्त चित्त से सुस्थिर वाणी में वसिष्ठ जी ने कहा, ''प्रिये! अक्रोध और निर्वैरता की साधना में मुझे तुम्हारे सरल सेवा परायण व्यवहार से बडा बल मिला है और मैं निःसंकोच अपनी यह बात दोहराता हूं कि इसका सम्पूर्ण श्रेय तुम्हीं को है।'' वसिष्ठजी की स्नेह उंडेलती हुई आंखें उनकी पुलकित अनुभूतियों का परिचय देती हुई तरल हो गई थी।

अरुन्धति अपने पति के निष्कपट प्रेम की इस बौछार में आंखें मूंदे सुख और सन्तोष से अभिभूत हो गई। कई क्षणों के मौन के पश्चात् वे बोलीं ''नाथ यह तो आपका असीम सौजन्य है जो आप मुक्त कण्ठ से मेरी प्रशंसा कर रहे हैं अन्यथा आपने स्वयं ही देखा है कि मैं अपने क्रोध को नही रोक पायीं थी। क्योंकि नन्दिनी की कातर आंखें मेरे मर्म में चुभकर मुझे उलाहना दे रही थीं।''

''देवी! तुम्हारा कोप सात्विक था और मेरी क्षमा का ही पर्याय था वह। तुम मेरे अपमान से विचलित होकर प्रतिकार के लिये सिद्ध हुई थीं। और नन्दिनी की रक्षार्थ ही तुम्हारे उद्गार प्रकट हुए। तुम्हारे कोप ने भी तो विश्वामित्र का कोई अहित नही किया न?''वसिष्ठ ने निश्चल प्रवचन किया।

* * * * * *

उपर वर्णित घटना को अभी अधिक समय नही बीता था कि एक और घोर प्रसंग का आरम्भ हो गया।

गाधिनन्दन के उपद्रव से 'आश्रम की शान्ति पुनः भंग न हो इसलिये महर्षि वसिष्ठ ने कौशल पति महाराज मित्रसह की प्रार्थना पर सरयूतट पर

नवीन आश्रम स्थापित कराया और अपने पुत्रों को उधर भेजकर कुछ काल पश्चात वहां जाने का मन बनाया। क्योंकि तत्काल अपना वर्तमान आश्रम त्याग देने से यह सार्वजनिक धारणा बनती कि वे गाधिनन्दन से भयभीत होने के कारण चले गये हैं। अस्तु देवी अरुन्धति और नन्दिनी गौ के साथ कतिपय शिष्यों को लेकर वे वहीं निवास करते रहे।

कुछ कालान्तर के पश्चात एक दिन अचानक शिष्यों के संरक्षण मे अरुन्धति की एकमात्र पुत्रवधू अदृश्यन्ति विलाप करती हुई आ पहुंची और सास के चरणों में गिर कर धाड़ मार मार कर रोने लगी। उससे विह्वल शब्दों से जो हृदय विदारक समाचार देवी अरुन्धति और महर्षि वसिष्ठ को प्राप्त हुआ वह सर्वथा असहनीय था।

समाचार यह था कि जब महाराज कौशलपति इक्ष्वाकुनन्दन मित्रसह कौशल राज्य के पूर्वी सीमान्त पर किसी युद्ध में विजय प्राप्त करके लौटे तो अपनी सेना को पीछे छोड़कर तीव्र गति से अपने अश्व पर सवार अयोध्या के समीप आ पहुंचे। उसी समय सरयू तट से स्नान आदि से निवृत्त होकर वसिष्ठ पुत्र शक्ति भी आश्रम की ओर लौट रहे थे। मार्ग सँकरा होने के कारण महाराज ने उनसे कहा कि वे मार्ग से हट जाये और उन्हें निकल जाने दे। ब्रह्मवेत्ता वसिष्ठ पुत्र शक्ति को उनका इस प्रकार आदेश देना अपमानजनक जान पड़ा। महाराज विश्वामित्र द्वारा अपने पिता की अवमानना के कुप्रयास को वे भूले नही थे। यों भी शास्त्र की व्यवस्था भी यही है कि ब्रह्मनिष्ठ तपस्वी को कोई भी क्षत्रिय मार्ग से न हटावें, भले ही वह राजपुरूष ही क्यो न हो। अपितु उसे स्वयं तुरन्त हट जाना चाहिए और तपस्वी को मार्ग देना चाहिए। इन्हीं विचारों का विश्लेषण करते हुए शक्ति मार्ग से नहीं हटे। उन्होंने दृढता से महाराज को अपनी स्थिति समझा दी। महाराज मित्रसह भी अपने राजोचित अधिकार को झुकाने के लिये तैयार नहीं थे और उन्होंने पुनः पुनः शक्ति से मार्ग मांगते हुए अन्त में उनकी पीठ पर अपने कोड़े से दो एक बार प्रहार कर दिये। शक्ति तो उग्र स्वभाव के थे ही, उन्होंने बिफरते हुए महाराज मित्रसह को शाप दे दिया ''अरे अभिमानी राजा! तू पिशाच की भाँति निर्दय होकर मुझ निरपराध ऋषि पुत्र की पीठ पर कोड़े फटकार रहा है। जा दुष्ट, तेरे

सारे पुण्य नष्ट हो जावेंगे और तू घोर, नरभक्षी, पिशाच हो जा।''

महाराज मित्रसह तत्काल पैशाचिक लक्षणों से युक्त होकर जंगल की ओर पलायन कर गये। पूरे जनपद में यह समाचार जंगली आग की भांति फैल गया और महाराज मित्रसह को कल्माषपाद के नाम से पुकारा जाने लगा। यद्यपि वे ग्रामों, नगरों अथवा पुरों में कभी नही आये। ऋषिपुत्र शक्ति की पत्नी अदृश्यन्ति ने उन्हें उनकी भूल बतलाई ''हे आर्य पुत्र! महाराज मित्रसह हम सबके स्वामी भी हैं और उन्हीं के बाहुबल से रक्षित शांत आश्रम में हम निवास करते हैं। फिर आप यह भी भूले नही होंगे कि अपने मन्तव्य में विफल होकर जब विश्वामित्र जी ने इन कौशल पति को अपने विरूद्ध प्रेरित किया था और तब इन धर्मात्मा नरेश ने उनके दुराग्रह को ठुकरा दिया था। हमारे लिये नवीन आश्रम की बात इन्हीं की प्रार्थना पर सिद्ध हुई है। अतः आपने ऐसे पुण्यात्मा महाराज को शाप देकर उचित नहीं किया है। यदि वे पिशाच होकर पहले आपका ही भक्षण कर डालते तो क्या गति होती? आप हम सभी को लेकर तुरन्त पूर्व आश्रम में अपने पिताश्री एवं मातृश्री की चरण शरण में चलें। वे ही हम सबकी रक्षा में समर्थ है।''

अपनी पत्नी की सद्प्रेरणा को स्वीकार करके वसिष्ठ जी के पुत्र शक्ति अपनी पत्नी तथा समस्त अनुजों के साथ वसिष्ठजी के पूर्वाश्रम की ओर चल पड़े।

उधर महाराज मित्रसह जो अब कल्माषपाद नामक नरभक्षी पिशाच हो गये थे, अपने पूर्व संस्कारों को तत्काल नहीं भूले। और अपनी भूल समझकर वसिष्ठ पुत्र से क्षमा याचना करने एवं शाप अनुग्रह कराने के लिये आ ही रहे थे कि विश्वामित्र ने वसिष्ठ कुल का अहित करने के लिये ऐसा स्वर्ण अवसर हाथ से नहीं जाने दिया। और किंकर नामक एक असुर द्वारा महाराज कल्याणपाद को उकसाया कि जब उन्हें नरभक्षी होने का घोर शाप वसिष्ठपुत्र ने दिया है, तो वे उन्हीं का भक्षण क्यों नहीं कर डालते? बस, फिर क्या था। कल्माषपाद ने यात्रा कर रहे महर्षि के प्रिय पुत्र शक्ति को और उनके सभी अनुजों को चुन चुनकर खा डाला। विलाप करती हुई अदृश्यन्ति की प्रार्थना पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। और अट्टहास

करते हुए अपना प्रतिशोध पूरा करके जंगल में जा घुसे। तब वसिष्ठजी के शिष्यगण उनकी बिलखती हुई पुत्रवधू को साथ में लिवाकर उनके पास पहुंचे और इस प्रकार उन्हें समस्त घटनाचक्र से अवगत कराया।

महर्षि वसिष्ठ निरभ्र आकाश से हुए भीषण वज्रपात जैसे इस घटनाचक्र से पाषाणवत् रह गये। वे शोक से विह्वल होकर बार- बार मूर्छित और धराशायी होने लगे और बार-बार होश में आने पर उठकर अपनी छाती पीट-पीट कर "अहोनाश! सर्वनाश" कहते हुए विलाप करते रहे। वे निर्वंश हो जाने से अत्यन्त शोक के कारण अर्द्ध-विक्षिप्त से होकर प्राण विसर्जित करने के आवेश मे आ गये। सहसा उन्मत्त की भांति आश्रम के दक्षिण पश्चिम में बहने वाली नदी की ओर दौड़े। देवी अरुन्धति अपने पति की इस दशा को देखकर अपनी छाती पर आ पडे दुख के पहाड को भूल गईं और पति की प्राणरक्षा के लिये चिन्तातुर होकर उनके पीछे दौड़ी। उनकी पुत्र वधू भी तरूणी होने के कारण अपने श्वसुर के पीछे अधिक तीव्रगति से दौड़ी और उच्च स्वर से पुकारती चली गई "तात्! रूक जाइये। धैर्य धारण कीजिये।" अरुन्धति जो अपनी पुत्रवधु के साथ न चल पाकर पीछे रह गई और मन ही मन अपनी सम्पूर्ण पुण्याई का फल और शेष आयु का भी अपने पति के प्रति समर्पण का संकल्प करती हुई जगन्नियन्ता का स्मरण करती जा रही थी और पतिदेव की कुशलता के लिये उनसे आंचल पसार कर कृपा की भीख मांग रही थी। उधर महर्षि वसिष्ठ तेजी से जाकर नदी में कूद पड़े। पर यह क्या! उनके गिरते ही नदी की विशाल धारा छोटी-छोटी सौ उपधाराओं में विभक्त होकर इतनी उथली होकर बहने लगी कि महर्षि कहीं भी नहीं डूब सके। तभी से उस नदी का नाम 'शतद्रू' (सतलज) हो गया। तब वे माता पिता से बिछुडे अनाथ बालक की तरह इस वन प्रखण्ड के उत्तर पश्चिम में बहने वाली दूसरी नदी की ओर गये और तट पर पहुंच कर मोटी लताओं से अपने शरीर को एक भारी पत्थर के साथ बांधा और नदी में कूद गये। तभी दूसरा चमत्कार हुआ और कुछ ही पलों में नदी ने उनके पाश विपाश (तोडकर) करके प्रवाह में से निकाल कर उन्हें तट पर ला छोडा। तभी से इस दूसरी नदी का नाम पाशमुक्त करने वाली विपाशा पड़ गया। यही नाम

बाद में व्यास हो गया। महर्षि वसिष्ठ किसी प्रकार भी आत्महत्या करने का आवेश छोड़ नहीं पा रहे थे। अतः वह एक पर्वत शिखर से गिरकर अपना प्राणान्त करने के लिये उस पर चढ़ने लगे। उनकी पुत्रवधू जो इस बीच निकट आ पहुंची थी। उन्हें शांत करने का प्रयास करती हुई उनके पीछे चली जा रही थी। इस अवस्था में एक तीसरा चमत्कार घटित हुआ - महर्षि ने मन्त्रोच्चार करता हुआ एक पैना स्वर सुना। और रूककर चारों ओर दृष्टि घुमाई उन्हें अपनी पुत्रवधू दिखलाई पड गई। अतः पूछा, "बेटी, यह शान्तिदायक मन्त्रोच्चार करता हुआ स्वर कहां से आ रहा है? इस नीरव वन में तो दूर दूर तक कोई मानव प्राणी है ही नहीं।" इस पर अदृश्यन्ती ने उनसे कहा "पूज्य पिता श्री "यह मेरे गर्भ में पल रहा आपका पौत्र है। जो आत्मा के आकर्षण से यह मन्त्रोच्चार कर रहा है" महर्षि वसिष्ठ इन शब्दों को सुनते ही आनन्द से नाचते हुए कहने लगे "अहो, मैं निर्वंश नही हुआ। अब मेरे पितर पिण्डोदक क्रिया से वंचित नही रहेंगे।" इसके साथ ही उन्होंने प्राणत्याग देने का अपना विचार छोड दिया और आश्रम की ओर लौट आये। मार्ग में वशिष्ठजी को उनकी पुत्रवधू ने बतलाया कि किस प्रकार आर्या अरुन्धति उनके कल्याण के लिये अपनी तपश्चर्या का पुण्य उन्हें समर्पित करके पीछे-पीछे आ रही थी एवं शोक से उत्पन्न शारीरिक दुर्बलता के कारण पिछड गई थीं और जरूर मार्ग में निकट ही कहीं मिलेंगी।

आधा क्रोश के लगभग मार्ग यापन करके वसिष्ठजी ने देखा कि एक वृक्ष के नीचे देवी अरून्धति भगवान शंकर की पार्थिव पिण्डिका का निर्माण कर विधिवत् उनका जलाभिषेक करके बिल्वपत्रों और अर्क पुष्पों से उनकी पूजा में लीन थी। वे महामृत्युंजय स्तोत्र का निरन्तर पाठ कर रही थीं। पुत्रवधू के पदचाप से उनका ध्यान नहीं टूटा। तब महर्षि ने अत्यन्त मधुरवाणी में देवी अरुन्धति को पुकार कर सजग किया और अदृश्यन्ति के गर्भ से उनके पौत्र द्वारा दिये गये मन्त्रोच्चारण का अद्भुत प्रसंग सुनाया और यह भी वर्णन किया कि किस प्रकार दो-दो नदियों में कूदने पर भी उनकी मृत्यु नहीं हुई थी। इन सभी चमत्कारों का वसिष्ठजी ने पूरा पूरा श्रेय देवी अरुन्धति के पुण्य का प्रभाव कहते हुए उनकी प्रशंसा की। देवी

अरुन्धति ने अपने पति को सकुशल लौटा हुआ देखकर एवं पुत्रवधू के गर्भवती होने का सुखद समाचार पाकर भगवान शंकर को शत्‌शत्‌ प्रणाम किये और पति से बोलीं कि क्यों न उनके पौत्र का नाम पराशर रख दिया जाये। जिसने उन्हें ''परासु'' मरने की इच्छा से मुक्त कराया है। महर्षि ने भी देवी अरुन्धति के प्रस्ताव का सहर्ष अनुमोदन किया। उन्होंने कहा कि ''हे स्वामी आपका अक्रोध तो वास्तव में चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर चुका है। जिसने आपके सभी पुत्रों का नाश करवाया उस गाधिनन्दन विश्वामित्र के प्रति अहित का विचार तक आपके मन में नहीं आया। उन्हें दण्ड देने की बात तो बहुत दूर है।'' वसिष्ठ जी ने अपनी भार्या का अभिनन्दन किया और अपने विचार मंथन से उत्पन्न ''योगवासिष्ठ'' का सारांश बतलाया। अरुन्धतिं ने वेदान्त दर्शन के उस सूत्र रूप ग्रन्थ को भविष्य के लिये महान धरोहर के रूप में निरूपित किया।

किन्तु महर्षि वसिष्ठ को प्रतीक्षा थी ऐसे महामानव की जो उनके अमूर्त विचारों को मूर्त रूप देकर जगत में उनके आदर्श की स्थापना करें। उनकी प्रतीक्षा तब पूरी हुई जब परम प्रभु ने दशरथनन्दन राम के रूप में मानवावतार ग्रहण किया। उनके चरित्र ने संसार को महर्षि वसिष्ठ के वैराग्य, निर्वैर, अक्रोध और क्षमा के लोकोत्तर आदर्शों का साक्षात्‌ दर्शन मिला। साथ ही गाधिनन्दन विश्वामित्र जिन्होंने राजपाट छोड़कर महान तपस्या की और ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त कर लिया, उनके पराक्रम और दृढ शक्ति का भी श्रीराम जी के चरित्र में पूर्ण प्रादुर्भाव हुआ।

— * —

३. अत्रि-प्रिया अनुसूया

महाराज मनु की पुत्री देवहुति महर्षि कर्दम को ब्याही गई। उनसे दो संतानें हुईं। एक पुत्र और एक पुत्री - दोनों लोकविख्यात। पुत्र कपिलमुनि के नाम से जगतविख्यात हुए जिन्होंने सांख्यदर्शन को जन्म दिया। देवी अनुसूया इन्हीं कपिलमुनि की बड़ी बहन थीं और ब्रह्माजी के मानसपुत्र, उनके नेत्रों से प्रकट हुए महर्षि अत्रि को ब्याही गई। महर्षि अत्रि का आश्रम आधुनिक बुन्देलखण्ड के पूर्वभाग में स्थित चित्रकूट के दक्षिण पूर्व में मन्दाकिनी के उद्गम स्थान पर था। यह मन्दाकिनी देवी अनुसूया के तपोबल से ही प्रगट हुई थी।

एक बार इस क्षेत्र में निरन्तर १० वर्ष तक वर्षा नहीं हुई। अनावृष्टि के कारण वनस्पतियां सूख गईं। वृक्ष ठूंठ मात्र रह गये। जलाभाव से पशुपक्षी नष्ट हो गये और सभी तापस और मुनि चित्रकूट क्षेत्र को छोड़कर सूदूर क्षेत्रों में चले गये।

किन्तु देवी अनुसूया का धैर्य असीम था। वे कड़ी धूप और तपती भूमि पर प्रति दिन कोसों चलकर पर्वतों के मूल में अथवा कन्दराओं में जल स्रोत खोज कर, कहीं न कहीं से जल लाती थीं और अपने पतिदेव के नित्यक्रम में कभी कोई कमी नहीं आने देती थीं। उन्होंने न तो दूर दूर तक जलाभाव के विषय में ही और न ही उसे प्राप्त करने में इतना घोर परिश्रम कर रही थी इसके विषय में ही उनसे कभी कोई चर्चा की। झुझंलाहट तो उनकी शान्त सौम्य मुख मुद्रा में कभी देखी ही नहीं गई।

दूसरों के दोषों को ढूंढ निकालने और उनकी इधर उधर चर्चा करते रहने की जो "असूया" नाम की बुरी आदत लगभग सभी स्त्री, पुरूषों में

थोडी बहुत मात्रा में पाई जाती है वह उनको छू भी नही सकी थी। इसी से उनका नाम भी उनके माता पिता ने 'अनुसूया' (अर्थात् असूया से रहित) रख दिया था। मौन रहकर कष्टों और क्लेशों को सहन करने की अपार क्षमता या तितिक्षा उनमें कूट कूट कर भरी थी। मौन और तितिक्षा के मूल में होता है सन्तोष। बिना असीम संतोष के मौन और तितिक्षा का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है। ऐसी थीं देवी अनुसूया - अविचल तपस्या की साक्षात् प्रतिमा।

गंगाजी की मानसिक पूजा करती हुई और उनकी स्तुति के छन्द - "गांङ्गं वारि, मनोहारि! मुरारि, चरणऽच्युतम्। त्रिपुरारि शिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्।।" गुनगुनाती हुई जल की खोज में भीषण आतप को वे निरन्तर शरीर पर ओढ़ती हुई सूख कर कांटा हो गईं। उनके नेत्रगोलक गह्वरों में धंस गये। बार बार पपडी पड़ने से उनके ओष्ठ फट गये और उनसे रक्त रिसने लगा। पैरों मं बिवाइयां फट गईं जिनमें कांटे चुभ-चुभकर दारूण कष्ट पहुंचाने लगे। किन्तु अनसूया पति सेवा में इंतनी तल्लीन रहती थी कि बहुधा इन समस्त कष्टों की ओर उनका ध्यान ही नही जाता था और वे उनकी देह को टीस टीस कर निरन्तर सुखाते जा रहे थे, जब कि अनुभव करने वाला मन उस देह में था ही नहीं। महर्षि अत्रि अपनी प्रिया की घोर तपस्या को देख देखकर मन ही मन उन पर न्यौछावर थे। यद्यपि उपर से लगता था कि उन्हें उनके कष्टों का कोई भान ही न हो।

अन्ततः गंगाजी प्रसन्न हुईं और उनकी पवित्रधारा उस पर्वत के निकट फूट निकली जिस पर महर्षि अत्रि का आश्रम था। धारा निर्मल थी। दूध के समान मीठी थी और सतत प्रवाहित थी। नाम हुआ "मन्दाकिनी"। फिर क्या था देखते ही देखते सारा दृश्य बदल गया। तटों पर हरे भरे वन, वनों में चित्र विचित्र पशु पक्षी और उनके कलरवों से गूंजते मुनियों और तपस्वियों के आश्रम। अन्य अनेक पर्वतों के हृदय भी पसीज उठे और स्थान स्थान पर शीतल, मीठे और निर्मल जल के स्रोत प्रकट हो गये। उत्तर पूर्व की पर्वतमाला में कोटि तीर्थ, वेद तीर्थ, और देवागंना आदि स्थानों पर पवित्र धारायें पर्वतों से निरन्तर निकला करती थीं। इसी प्रकार दक्षिण पश्चिम के पर्वत की एक गुफा के गर्भ से गुप्त

गोदावरी नाम स्रोत प्रकट हो गया, देवि अनुसूया के चरण चिन्हों से अंकित धरती को आप्लावित करते हुए। तभी से उनकी पुण्य गाथा को ये मनोहारी स्रोत अमर बना रहे हैं। इसी आशय का आशीष तो महर्षि अत्रि ने विभोर होकर अपनी प्रिया अनुसूया को उस समय दिया था जब मन्दाकिनी के प्रवाह में उन्होंने प्रथम बार स्नान किया था। उन्होंने कहा था "प्रिय कर्दमनन्दिनी! यह पुनीत सरिता और इस क्षेत्र की सुरम्य वनश्री तुम्हारे तपोबल की गाथाओं को सदैव मुखरित करेंगी। शुभे! तुम्हारा कल्याण हो। स्वयं परब्रह्म ही अवतरित होकर इधर खिचे आयेंगे और तुम्हें व मुझे उनके दर्शनों का लाभ प्राप्त होगा, यह भवितव्य मै प्रत्यक्ष देख रहा हूं।

इतना ही नहीं अपितु यह क्षेत्र धर्मतत्व का साकार विग्रह बनकर भारत की धरित्री को पुलकायमान करता रहेगा।"

देवि अनुसूया और उनके पति महर्षि अत्रि के तप का ही फल है कि उसी चित्रकूट धाम में आज वर्षानुवर्ष रामायण मेला राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित हो रहा है जिसमें संसार के कोने कोने से विद्वान एकत्रित होकर रामचरित की अतिपावन सरिता को प्रवाहित करते हैं।

*　　*　　*　　*　　*　　*

किन्तु महर्षि अत्रि और देवी अनुसूया को अभी तक संतानसुख नहीं मिला था। अतः परस्पर सहमति से दोनों ने सह्याद्रि पर्वत श्रृंखला (आधुनिक महाराष्ट्र) के ऋक्षवान पर्वत पर जाकर घोर तपस्या की और तब तक करते रहे जब तक ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवताओं ने एक साथ प्रकट होकर "वरं ब्रूहि" नही कहा। महर्षि अत्रि और उनकी प्रिया अनुसूया इतने गद्गद् हो गये कि सहसा उनके मुख से शब्द ही नहीं फूटे। त्रिदेव पुनः बोले "महामुनि हम आप दोनों की उग्र तपस्या का अभिनन्दन करते हैं निःसंकोच हमसे इच्छित वर मांग लीजिये।" महर्षि ने भगवान को ही पुत्र रूप में प्राप्त करने का वरदान मांगा। देवि अनसूया ने भी पति की इच्छा का सहर्ष अनुमोदन किया और भगवान विष्णु को कहना पडा "दत्तोमयाहमिति" मैने तुम्हें अपने आपको दे दिया। पुनः त्रिदेवों ने

अनसूया से कहा, ''मातृश्री ! हम तीनों ही शीघ्र पुत्र बनकर आपकी गोद में आयेंगे।'' तपस्वी दम्पति संतुष्ट होकर अपने आश्रम पर लौट आये।

उधर त्रिदेवों की देवियों - उमा, रमा, ब्रह्माणी ने देवर्षि नारद से सारा वृत्तांत सुना और अनसूया देवि के तप और उनके पातिव्रत की भूरिभूरि प्रशंसा उन्हें सहन नही हुई। देवियां तो वे थीं किन्तु स्त्रियों की स्वाभाविक ईर्ष्या से वे अछूती नहीं रह सकी। अथवा यूं कहा जाये कि तराश कर हीरा की कांति को और अधिक उजागर करने के उद्देश्य से उन्होने अपने पति की भर्त्सना की, ''अनसूया देवी की पात्रता की परख किये बिना आपने उन्हें माता का संबोधन दे दिया और शीघ्र ही उनके पुत्र होकर अवतार भी लेंगें। आपको अनसूयाजी के पातिव्रत की परीक्षा तो ले लेनी चाहिए।'' इस पर त्रिदेवों ने शक्तिरूपा अपनी अपनी अर्द्धांगिनी से कहा ''देवि, पातिव्रत की परीक्षा निरापद नहीं होती। पातिव्रत की महिमा निराली है। पतिव्रता की इच्छापूर्ति को तो देवता, लोकपाल, यक्ष, गंधर्व कोई नहीं रोक सकता। ऐसा न हो कि तुम्हें बाद में पछताना पडे।''

किन्तु ईर्ष्या तो ईर्ष्या ही है। इस मनोविकार से प्रभावित मन विचारहीन हो जाता है, सो देवियां भी हो गईं। और उनकी प्रेरणा से ब्रह्मा, विष्णु और महेश को देवि अनसूया के पातिव्रत की परीक्षा हेतु कोई रचना करने के लिये विवश होना पडा।

वे महर्षि अत्रि के आश्रम के समीप मन्दाकिनी तट पर एकत्र हुए और विनोद की मुद्रा में एक दूसरे को देखकर हँसे। तीनों ने अघोरी साधुओं का वेष बना लिया और चिमटा कमण्डल तथा त्रिशूल लिये तत्काल एक साथ महर्षि के आश्रम पर जा पहुंचे।

देवी अनसूया ने कुटी के द्वार पर आकर अतिथियों का अर्घ्यपादादि से स्वागत किया। और कन्दमूल फल तथा मधु ग्रहण करने के लिये आसनासीन होने के लिये कहा। पर तीनों स्तम्भवत् खडे रहे और एक साथ बोले ''देवि। आपका दिया हुआ भोजन हम तभी स्वीकार करेंगे, जब आप निर्वस्त्र होकर भोजन कराने का वचन दें।''

उनके इस ऊटपटांग उत्तर को सुनकर अनसूयाजी क्षण भर के लिये विचलित सी हुईं, पर ध्यान लगाकर देखते ही वे त्रिदेवों को पहचान गईं

और उनके आगमन का अभिप्राय तथा उसके पीछे देवियों की दुरभिसन्धि भी उनकी दृष्टि से छिपी नही रह सकी। वे उन्हें क्षणभर प्रतीक्षा करने के लिये कहकर कुटी में गईं और महर्षि के कमण्डलु से जल हाथ में लेकर उसे अपने तप और संकल्प से अभिमन्त्रित करके उन तीनों अघोरियों पर छोड़ दिया। वे तीनों तत्क्षण छः छः माह के बालक बनकर देवि की ओर देखकर रोने लगे। बस, देवि ने निर्वस्त्र होकर तीनों बालकों को बारी बारी से स्तन्य-पान कराया और भीतर लिवा जाकर पतिदेव की गोद में बैठा दिया। महर्षि को यह तो स्मरण ही था कि त्रिदेव पुत्र होकर अवश्यमेव आने वाले थे। पर एक साथ यह चमत्कार कैसा? दम्पति के नेत्र वात्सल्य से छलकने लगे और वे उन्हें गोद में खिलाते बहलाते हुए अपने आपको धन्य मानने लगे।

उधर देवर्षि नारद, उमा, रमा, ब्रह्माणी जी के पास पहुंचे और हंसते हुए उनसे कहा "आपके पतिदेव अघोरी साधु बनकर देवी अनसूया के आश्रम पर गये और उनसे नग्न होकर भोजन कराने की याचना की। अनसूयाजी ने तत्काल उनकी याचना पूरी कर दी। "देवियाँ" पहले तो आश्चर्य से और फिर हर्ष से खिल गईं और बोलीं "अर्थात् परपुरूष के देखते नग्न होकर उन्होंने अपना पातिव्रत स्वयं भंग कर दिया" उन्हें अपार प्रसन्नता हो रही थी और उनके मन हर्षातिरेक से थिरक उठे थे।

नारदजी भी कुछ व्यंग्य के साथ हंसते हुए बोले "देवियों' तुम तो विभोर ही हुए जा रही हो। जाकर देख तो लो कि तुम्हारे पतिदेव किस दशा में हैं।" कहते हुए देवर्षि के नेत्रों में रहस्य का भाव खेलने लगा।

"क्या हुआ है हमारे पतिदेव को? शीघ्र बतलाइये न? आपने तो हमें चिन्ता में डाल दिया है।" देवियां अकस्मात् गम्भीर हो गई थीं। देवर्षि बोले "नारायण नारायण स्वयं जाकर देख आओ न? आपने अपने पतिदेव का ऐसा विलक्षण रूप आज तक कभी देखा ही नही होगा"। इतना कहकर देवर्षि आकाश पथ में जाते हुए दृष्टि से ओझल हो गये। उनकी वीणा की झनकार और "नारायण नारायण" का उच्चारण धीमा होते होते नीरवता में विलीन हो गया। देवियों को कौतूहल और दुश्चिन्ता ने आतुर बना दिया था। वे तुरंत देवि अनसूया के आश्रम पर जा पहुंचीं और अपने

अपने पतिदेव को बालक बनकर महर्षि अत्रि और देवी अनसूया के मध्य में घुटनों के बल चलते हुए देखकर स्तम्भित रह गईं।

अनसूयाजी ने उनका स्वागत सत्कार किया और अंजान सी बनकर उनके आने का प्रयोजन पूंछा। देवियां बोलीं "माताजी, हमारे पतिदेव बालक बने आपके आंगन में खेल रहे है।"

अनसूया ने कहा "यह तो उन्होने मुझ पर अतिशय कृपा की है। बालरूप कितनी सरलता से मन को खींच लेता है।" और वे बालरूप भगवान की स्तुति गुनगुनाने लगीं। "करारविन्देन, पदारविन्देमुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्। वटस्य वृक्षस्य पत्रे शयानं बालं मुकुदं, शिरसा नमामि॥" देवियां एक दूसरे की ओर देखती हुई निरूपाय खडी थीं। माता अनसूया जी से अपना अभिप्राय कैसे प्रकट करें। अंततः बोली, "अम्बे इन्हें कृपा करके इनका पूर्व रूप प्रदान करे दें। ताकि हम देवियां अपने अपने पति के विरह में दग्ध न हों" अनुसूया ने गंभीर होते हुए उत्तर दिया "देवियों, प्राप्य की प्रतीक्षा में कालयापन उतना कठिन नहीं होता जितना प्राप्ति के पश्चात प्राप्त से बिछुडने का काल होता है। हम चिरकाल से प्रतीक्षा में थे कि कब परमप्रभु बालक बनकर हमारी गोद में आयेंगे ओर कब हम वात्सल्यभक्ति का आनन्द प्राप्त करेंगे। विश्वास के सहारे हम उस घड़ी की और भी प्रतीक्षा कर सकते थे। पर अब इन बालकों को अपनी गोद से कैसे विलग कर दूं? इन्होंने मेरा स्तन्य पान करके मेरे अंतरतम में प्रवेश कर लिया है। इतना कहकर अनसूयाजी बारी बारी से तीनों बालकों का मुख चूम चूमकर उन्हें वक्ष से चिपका चिपकाकर दुलारने लगीं। देवियों से कुछ कहते नहीं बन रहा था।

अंत में माता अनसूयाजी बोली "देवियों, निराश न हो। स्त्रियों के लिये पति ही सर्वस्व होता है और वह पुत्र से बढ़कर है। क्योंकि पति से ही पुत्रों और पुत्रियों की प्राप्ति होती है। अतः तुम्हें पति के बिछोह का दुख देकर हमें वात्सल्य सुख नहीं चाहिए। लो, मैं त्रिदेवों को उनके मौलिक रूप में प्रकट होने के लिये अपने आग्रह से मुक्त करती हूं।"

देवि अनुसूया द्वारा अपना संकल्प बदलते ही त्रिदेव अपने अपने मौलिक रूप में परिवर्तित होकर उनके सामने नतमस्तक खड़े हो गये।

अनसूयाजी ने तीनों देवियों को पुत्रवधुओं के रूप में अभिनन्दित किया और उन्हें अपने पति के वामाङ्ग में स्थापित कर संतोषपूर्वक उनकी आरती उतारी और उन्हें विदा किया। ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने शीघ्र ही अंशावतार लेकर पुत्र रूप में उनकी गोद में आने की बात दोहराई और देवियों के साथ अंतर्ध्यान हो गये।

आगे चलकर विष्णु ने दत्तात्रेय के रूप में ब्रह्मा ने सोम के रूप में और महेश ने दुर्वासा के रूप में देवी अनसूया के गर्भ से जन्म लिया। प्रथम पुत्र दत्तात्रेय ने महर्षि अत्रि की तपोभूमि सह्याद्रि पर्वत पर ही अपना आश्रम बनाया और उत्कट तपस्या के पश्चात अवधूत मार्ग का उपदेश किया। उन्होंने प्रकृति के साधारण पदार्थों और जीवों में से चौबीस को अपना गुरू बनाया और प्रत्येक से शिक्षा ली। सेवोपासना करके कार्तवीर्य सहस्रार्जुन ने भगवान दत्तात्रेय से ही एक हजार भुजाओं का वर प्राप्त कर माहिष्मति में राजधानी बनाकर वैभव और यश का अर्जन किया। द्वितीय पुत्र चन्द्रमा ने तारा के संयोग से बुध को जन्म दिया। जिन्होंने इला के गर्भ से पुरूरवा को जन्म दिया और उन्हीं से चन्द्रवंश का आरम्भ हुआ। सबसे छोटे पुत्र दुर्वासा ने केवल दूर्वा खाकर अति बिकट तपस्या की और उनकी सिद्धियां तथा उग्र स्वभाव जगत् प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार देवि अनसूया के मामा इक्ष्वाकु से सूर्यवंश और उनके पुत्र चन्द्रमा से चन्द्रवंश का आविर्भाव हुआ। भारतीय इतिहास में इन दोनों राजवंशों की महत्ता व्याप्त है। इतना ही नहीं तो उनके अनुज कपिल द्वारा सांख्यदर्शन जैसी दुर्लभ और कल्याणकारिणी विचारधारा भी जगत को मिली है। हमारी संस्कृति के लिये कितना महान है देवी अनसूया का योगदान।

* * * * * *

भारत के मध्य भाग में स्थित प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान पैठन) में एक शैव्या नाम की पतिपरायण ब्राह्मणी रहती थी। उसका पति कोढ़ग्रस्त, कुरूप और पंगु था। उसके दुर्गन्धयुक्त लिजलिजे शरीर को देखकर घृणा होती थी। किन्तु शैव्या अपने पति को गुनगुने पानी से नहलाती थी, मुलायम फाहे से उसके घावों को साफ करती थी और उनमें औषधियुक्त तेल लगाकर उसकी हर इच्छा को पूरा करके उसे सब प्रकार से सुखी

करने का प्रयत्न करती थी। पर वह तन का कोढ़ी मन से भी निष्ठुर कुटिल और कर्कश था। अपनी साध्वी पत्नी को वह डांटता फटकारता ही रहता था और अनेक बार छड़ी से पीटता भी था। तथापि सती शैव्या सिर झुकाए सब कुछ सहती हुई लगन के साथ उसकी सेवा में तल्लीन रहती थी। विधाता ने मानो उसके पातिव्रत की कठिन परीक्षा लेने के लिये ही उसके जीवन में ऐसे निकृष्ट पति की योजना की थी।

"कोढ़ और कोढ़ में खाज" की कहावत चरितार्थ करते हुए उसके पति में कामुकता भी बहुत थी। एक संध्या को उसके द्वार से एक वेश्या निकली। वह बनी ठनी तो थी ही। इत्रों के प्रचुर प्रयोग के कारण चतुर्दिक सुगन्धि और सुगन्धि के साथ अपने विशाल नेत्रों से मृदु कटाक्ष भी बिखेरती जा रही थी। उसे देखते ही शैव्या का कोढ़ी पति अपना आपा खो बैठा। उसने गोस्वामी तुलसीदासजी के एक विख्यात पद की इन पक्तियों को एकदम सार्थक कर दियाः "श्वान एक कुपङ्ग कानों, श्रवण पुच्छ विहीन। भग्नभाजन, कण्ठ, कृमि-सिर कामिनी आधीन।" उसकी दशा देखकर शैव्या ने कहा "हे पतिदेव आप थोड़ा धैर्य रखें। मैं इस वेश्या का पता ठिकाना मालूम करके किसी न किसी प्रकार उसे आपके अनुकूल करने में अवश्य सफल हो जाऊँगी। आपका मनोरथ अवश्य पूरा होगा।"

पतिव्रता शैव्या ने वेश्या की कोठी का पता लगाकर प्रतिदिन सूर्योदय से पहले जाकर उसका द्वार और अग्र प्रांगण को भलीप्रकार झाड बुहारकर गोबर से लीप कर और पुष्प बिखराकर सुन्दर बनाना आरम्भ कर दिया। किसी के जागने से पहले ही वह इतना सब कुछ करके लौट आती थी। वेश्या को बडा आश्चर्य होता था कि उसका ऐसा हितसाधन कौन और क्यों कर रहा है। बहुत दिनों बाद उसने प्रयत्न करके एक दिन साध्वी शैव्या को लीपते हुए देख लिया और उसे बुलाकर उसकी निःस्वार्थ सेवा का प्रयोजन पूंछा। शैव्या ने कहा, "हे सुमुखि। मेरी सेवा निःस्वार्थ नहीं है। मेरे कोढ़ी पति ने जब से आपको देखा है तबसे वे आपके प्रति आसक्त होकर दिनोंदिन दुर्बल होते जा रहे हैं और यदि आपने उनका प्रिय नही किया तो निराशा नागिन उन्हें डस लेगी औंर मृत्यु के ग्रास बन जायेंगे। मै अपने जीवनधन की रक्षा के लिये ही आपको सेवा द्वारा प्रसन्न करने में

लगी हूं। वेश्या को बड़ा विस्मय हुआ और उसके मन में उस पतिपरायणा देवी के प्रति श्रद्धा का भाव उदय हुआ। उसने रात्रि के पिछले प्रहर में उसे अपने पति को लिवा लाने के लिये कह दिया।

शैव्या ने स्नानादि से पति को सुसज्जित करके अर्द्ध-रात्रि के बीतने के पश्चात पीठ पर चढ़ाया और अंधकार में ही मार्ग टटोलते हुए उसे वेश्या के घर ले चली। दुर्भाग्य से उसी दिन महात्मा अणिमाण्डव्य को चोरी के सन्देह में राजाज्ञा के अंतर्गत सूली दे दी गई थी। वे चौराहे के मध्य में सूली पर चढ़े हुए छटपटा रहे थे। जब शैव्या पति को पीठ पर लादे वहां से निकली तो घने अंधेरे में कुछ भी न दिखलाई पडने के कारण उसके पति का पैर सूली से टकरा गया। सूली हिलते ही अणिमाण्डव्य ऋषि को दारूण पीड़ा हुई और वे चीखकर कराह उठे। शैव्या पति की ओर से क्षमायाचना करके उन्हें शांत करने का प्रयास करे इसके पहले ही उन्होंने शाप दे डाला। "जिस दुष्ट ने सूली को हिलाकर मुझे पीड़ा पहुंचाई है वह सूर्योदय के साथ ही मर जाये।" शैव्या पर मानो अचानक वज्र आ गिरा। उसे आज तक कभी क्रोध नही आया था। आज अचानक उसके मुख से निकल गया "यदि मैने पूरे मनोयोग से पति सेवा की है और यदि महर्षि द्वारा विचार किये बिना मेरे निरपराध पति को इतना घोर शाप दिये जाने से न्याय का तिरस्कार हुआ है तो सूर्य उदित ही न हों।

और सूर्योदय नही हुआ। १० रात्रियों के बराबर रात्रि प्रलम्बित हो गई। सबेरा होने का नाम ही नहीं। लोक में हलचल मच गई। सभी प्राणी व्याकुल हो गये, भोजन की तलाश भी संभव नही थी।

सभी देवगण पतिपरायणा तपोमूर्ति देवि अनसूया के पास आये और सारा प्रसंग सुनाकर समस्या के समाधान हेतु उनसे प्रार्थना की "माताजी, आपने अपनी तपस्या के प्रभाव से मन्दाकिनी गंगा को प्रकट किया है और सर्वेश्वर त्रिदेवों को बालक बनाकर अपना स्तन्य पिलाया है। संसार पर आये इस घोर संकट का निवारण भी केवल आप ही कर सकती हैं। अतः चलकर सती शैव्या को समझाने की कृपा करें।"

अनुसूया जी ने जग कल्याण के लिये शैव्या के पास जाकर सहानुभूतिपूर्वक कहा "बेटी, तुम्हारे पातिव्रत के प्रभाव से सूर्योदय रुक

गया है। धन्य हो तुम! किन्तु शुभे! जरा सोचो कि तुम्हारे पति की प्राणरक्षा तो अवश्य हो गई है तथापि सारा विश्व घोर असुविधाओं से त्रस्त है। अग्निहोत्र, यज्ञ यागादि सभी धार्मिक अनुष्ठान एवं लोक कल्याण के कार्य ठप्प हो गये है। गुरूकुलों में वेदाध्ययन रूका है। निरन्तर रात्रि रहने से चोरी व्यभिचारी बढ़ रही है। राजपुरूष भी निरूपाय हो रहे है। अतः देवि अपने हठ को त्याग दो। यह उचित नही है।''

शैव्या बोली ''माताजी आप तो समस्त पतिव्रताओं में शिरोमणि है। आप मुझसे ऐसा काम करने के लिये कैसे कह रही हैं कि जिसे करने से मेरे पतिदेव की तत्काल मृत्यु हो जावेगी? कौन पत्नी ऐसी होगी जो अपने हाथों से अपने पति को मृत्यु के मुख में झोंक दे?''

माता अनसूया ने कहा कि ''कल्याणी, तुमने अपने सतीत्व का प्रभाव तो परख ही लिया है। स्वयं लोकेश्वर सूर्य देवता ने तुम्हारे मुख से अचानक ही निकल पड़े शब्दों को पूरा पूरा आदर दिया है एवं उनका पालन किया है। तब क्या मृत्यु देवता यमराज भी तुम्हारे जैसे सत्याग्रह के विरुद्ध तुम्हारे पति के प्राण ले जा सकेंगे ?''

शैव्या ने उत्तर दिया ''देवी, ऐसा नहीं है कि मुझे अपने कथन के सत्य हो जाने का विश्वास था इसलिये मैने ऐसा आग्रह किया। वे शब्द तो मेरे मुख से स्वतः ही निकले थे। देवाविदेध सूर्य भगवान ने मेरे कथन को आदर दिया और उदित नही हुए यह तो उनकी महानता है। मै इसे अपने पातिव्रत का प्रभाव नही मानती। माताजी, यह तो मुझे ज्ञात हुआ है कि महर्षि अणिमाण्डव्य को निरपराध होते हुए भी भ्रमवश व चोर समझकर सूली पर बढ़ा दिया गया था जो बड़ा भारी अन्याय था।

किन्तु किए गये अन्याय का निराकरण किसी अन्य पर अन्याय करके कैसे हो जायेगा? मेरी क्रोधपूर्ण उक्ति सहज स्वाभाविक रूप से तब मेरे मुख से निकली जब महर्षि ने बिना सोचे समझे या पूछे बतलाये मेरे पति को शाप दे डाला।''

माता अनुसूया ने शैव्या के प्रति पूरी सहानुभूति प्रकट की, पर लोकहित को प्रमुखता देते हुए उन्होंने पुनः आग्रह किया, ''पुत्री, मेरा विश्वास मानों तुम्हारी पतिनिष्ठा के सम्मुख यमराज भी अवश्य विनत

होंगे। तुम संसार के प्रति दया दिखलाओ और सूर्योदय होने दो?''

शैव्या ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया- ''माता जी आपका अनुमान सत्य भी हो सकता है। पर यमराज को झुकाने की शक्ति का मिथ्या आत्मविश्वास धारण कर मैं अपने पतिदेव की मृत्यु की परिस्थिति कैसे उत्पन्न कर दूँ? यह अपने पतिव्रत का अभिमान ही कहलायेगा। मेरी जैसी साधारण नारी को महासती बनने का दम्भ कदापि नहीं करना चाहिए। यह न होगा माहेश्वरी।''

देवि अनुसूया ने शैव्या के निष्कपट अंतकरण और उसकी दृढ़ पतिनिष्ठा की मन ही मन प्रशंसा की और अत्यन्त गम्भीरता के साथ बोली, ''शैव्ये, मैं तुम्हारी मनःस्थिति का पूरा समर्थन करती हूँ। जितना अभीष्ट संसार की पीड़ा का निवारण है उतना ही अभीष्ट मैं तुम्हारे पति की प्राणरक्षा को मानती हूँ। मैं तुम्हें आश्वस्त करती हूँ कि तुम्हारे पति के प्राण लौटाने के लिये मैं अपनी सम्पूर्ण तपश्चर्या का फल समर्पित कर दूँगी। फिर भी यदि तुम्हारे पति के प्राण नहीं लौटा सकी तो मैं आमरण अनशन का व्रत लेकर अपने प्राण दे दूँगी। यदि तुम्हें मुझ पर भरोसा हो, तो सूर्योदय को रोक देने की अपने निसर्ग-विरूद्ध हठ को त्याग दो।''

देवि अनसूया के इन शब्दों से शैव्या आश्वस्त हुई और बोली, ''माता, भला आपकी अलौकिक शक्ति का अविश्वास मैं कैसे कर सकती हूँ? स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिसके सामने अपनी सत्ता को भुलाकर बालक बन गये थे, महासतीत्व की उस प्रखर तेजोराशि की अवहेलना कौन कर सकेगा जब आपने मेरे पति की प्राण रक्षा का संकल्प कर लिया है, तो मैं अपने आग्रह को समाप्त करके भगवान भुवन भास्कर से प्रार्थना करती हूँ कि वे उदित हों और जगत् का घोर संकट से उद्धार करें। मातु श्री यदि आपके प्रयत्न से भी मेरे पति के प्राण नही बचे तो आप आमरण अनशन का महाव्रत न करें, मैं स्वयं अपने पति की देह के साथ अग्नि प्रवेश करूंगी और परलोक में उनके अनंत साहचर्य को प्राप्त करूंगी। मृत्यु के अधिष्ठाता यमराज जिनका अस्तित्व ही धर्ममय है और जिसके कारण उनका दूसरा नाम धर्मराज है, वे मेरे प्रण के साक्षी हों।''

तभी शैव्या देवी के उक्त उद्गार प्रकट करते ही सूर्य उदित हुए

और जैसे ही उनकी प्रथम रश्मि ने शैव्या के पति की देह को स्पर्श किया वैसे ही वह "प्रिये मैं चला, कहकर प्राण शून्य होकर धराशायी हो गया। शैव्या अपने पति की मृत देह को वारवार अंक में भरकर करूण विलाप करने और पछाड़ खाकर गिरने लगी।

तभी देवी अनसूया ने अपने समग्र पुण्य का फल उस कोढ़ी के निमित्त अर्पित करने का संकल्प हाथ में जल लेकर विधिवत् मन्त्रोच्चार के साथ पूर्ण किया और वह जल उसकी मृत देह पर छोड़ दिया। सभी ने साश्चर्य देखा कि शैव्या का पति न केवल जीवित होकर उठ बैठा, अपितु निरोग सुन्दर तरूण बन गया।

यह घटना दिव्य इतिहास बनकर देवी अनुसूया की महिमा का बखान करती हुई तभी से संसार में व्याप्त है।

* * * * * *

अत्रिप्रिया अनसूया का यह जीवनोपाख्यान अधूरा ही रहेगा यदि उनकी उस पातिव्रत धर्म-व्याख्या का उल्लेख न किया जाये जो उन्होंने जनकनन्दिनी सीता को उपदेश करते हुए उनके माध्यम से संसार को प्रदान की है।

अयोध्या लौटने और सिंहासन स्वीकार करने के भरत द्वारा किए गये आग्रह को स्नेहपूर्वक अमान्य करके जब राम ने उन्हें अयोध्यावासियों के साथ विदा किया तब उनके मन में बार-बार यह विचार आने लगा कि उनके निवास की जानकारी होने से अयोध्यावासी स्नेहवश उनसे मिलने के लिये बार-बार आते रहेंगे। और चित्रकूट क्षेत्र के तापसों की एकान्त साधना में निरन्तर विघ्न पड़ता रहेगा। अतएव उन्होंने वहाँ से अन्यत्र किसी वन में जाकर निवास करने का मन बना लिया और महर्षि अत्रि से विदा माँगने के लिये सीता और लक्ष्मण के साथ वे उनके आश्रम पर गये।

वृद्ध महर्षि ने प्रसन्नतापूर्वक अतिथियों का स्वागत किया और तपस्या से क्षीणकाय किन्तु तेजोदीप्त वृद्धा अनुसूया माता ने मधु के साथ वन फलों का उपहार प्रस्तुत किया। फिर वे जनकनन्दिनी को आश्रम के अंतरंग में लिवा ले गईं और दिव्य वस्त्राभूषण और अंगरागादि उन्हें प्रदान किये। बड़े प्यार से देवी अनसूया ने शृंगारयुक्त लावण्यमयी सीता को देर

तक निहारा और अंक में लेते हुए वात्सल्यभरी वाणी में इस प्रकार बोली, ''जनकनन्दिनी सीते, जब से मैंने तुम्हारी उज्ज्वल कीर्ति और महान त्याग का विवरण दशरथजी की तीनों पटरानियों और रघुकुल गुरु वसिष्ठप्रिया देवी अरुन्धति आदि सभी के मुखों से बारम्बार सुना है, तभी से तुम्हारे प्रति मेरा अनुराग उमड़ता रहा है। पित्रालय और श्वसुरालय दोनों में सुख-सुविधाओं और लाड़ प्यार के बीच पली पुसी तुम जैसी कोमलांगी मे सभी स्वर्गोपम सुखों का एक क्षण में परित्याग कर दिया और सर्वथा अनभ्यस्त होते हुए भी वनवास के दुस्सह कष्टों को सहर्ष स्वीकार करके पति का अनुसरण किया, यह साधारण घटना नहीं है और तुम पातिव्रत का महान आदर्श बनकर अमर रहो यही मेरा आशीष है।''

प्रशंसा की बाढ़ से सकुचाई हुई सीता अनसूया के चरणों में और विनम्र वाणी में बोली ''मातेश्वरी। पित्रालय में माता सुनयना ने और ससुराल में मेरी सभी सासुओं ने विविध प्रसंगों पर जो-जो शिक्षा दी, उसी के अनुसार आचरण करने का मैंने प्रयत्न किया है। आप वयोवृद्धा महान पतिव्रता हैं, मेरे लिए आपके मुख से प्रशंसा पाकर मैं धन्य हुई। आप तो मेरी जननी और सासुओं से भी अधिक पूज्या और मेरी हितैषिनी है। आप मुझे आशीष के साथ पातिव्रत निर्वाह हेतु सदुपदेश देने का मुझ पर अनुग्रह करें। मैं तो आपकी पुत्री अथवा पुत्रवधू जैसी हूं और आपकी गोद में हूँ।''

सरल हृदया सीता के इन वचनों से देवी अनसूया का वात्सल्य भाव उमड़ पड़ा और उनकी पीठ पर हाथ फेर कर उन्हें दुलराती हुई वे बोलीं, ''पुत्री, तुम्हें उपदेश की आवश्यकता ही नहीं है। तुम तो मेरी समस्त उदात्त धारणाओं की साकार प्रतिमा हो। तो भी तुमने मुझे माता कहा है। अतः कुछ शिक्षा देना भी मेरा कुछ कर्तव्य हो जाता है। सुनो बेटी, संसार में पति के समान आत्यन्तिक सुख को प्रदान करने वाला अन्य कोई नहीं हो सकता। अतः पति के प्रति सम्पूर्ण समर्पण का भाव लेकर उनकी कही अनकही सभी इच्छाओं की पूर्ति करते रहना और स्वप्न में भी परपुरुष को रंच मात्र भी ध्यान का विषय न बनाना ही श्रेष्ठ पतिव्रता की परिभाषा है। जो स्त्रियाँ विभिन्न आयुवर्ग के अन्य पुरूषों को पिता, बन्धु और पुत्र का

संबोधन देकर उनसे मितभाषण करके अनावश्यक वार्तालाप में संलग्न नहीं हो जाती है वे मध्यम श्रेणी की पतिव्रताएँ होती हैं और जो केवल लोक-लाज के भय से अवसर प्राप्त न हो पाने के कारण परपुरुष में अनुरक्त नहीं होतीं वे निम्न कोटि की पतिव्रताएँ ही कही जाती है। वैदेही, क्रोधी, निर्धन, आपत्तिग्रस्त, विकलांग और कर्कश पति को भी पतिव्रता किसी भी प्रकार कभी अपमानित नहीं करती। उसे अपनी सेवा और मधुर भाषण से ही अपने अनुकूल बनाये रखा जा सकता है। जो नारियां दैहिक सुख सुविधाओं के प्रलोभनों में पड़कर पति के साथ विश्वासघात करती हैं वे अधम कोटि की स्त्रियाँ इस लोक और परलोक में भी अपनी और अपने पितृकुल तथा पतिकुल की निन्दा का कारण बनती है और तिरस्कृत और लांछित जीवन जीकर अगले जन्म में निकृष्ट योनियों में जन्म लेती हैं।''

विदेह तनया सीता ने अनुसूयाजी के एक-एक शब्द को ध्यानांकित किया और पुनः उनकी चरण वन्दना करके अपने पति तथा देवर के समीप लौट आयीं।

इस प्रकार अत्रिप्रिया अनसूया देवी की पवित्र जीवनचर्या का निचोड़ ही जनकनन्दिनी सीता के जीवन में साकार होकर युगों-युगों के लिये पातिव्रत धर्म की चरम मर्यादा रेखा बन गया जो संसार में आचरणीय आदर्श बना रहेगा।

— * —

४. यमजेत्री सावित्री

अखण्ड भारत के पंजाब प्रांत का पूर्वी भाग अर्थात खण्डित भारत का वर्तमान पंजाब प्राचीन काल में मद्र देश के नाम से जाना जाता था। इस सम्पन्न राज्य के स्वामी थे– महाराज अश्वपति - शूर बलवान और परम धार्मिक। वैसी ही पतिपरायणा उनकी सहधर्मिणी, सुखों के सभी साधन और भण्डार उनके चरण चूमते थे। उनकी प्रजावत्सलता के कारण सभी राजभृत्य - मंत्री, अमात्य, सचिव आदि पूर्णतयः स्वामी भक्त और आज्ञापालक थे। प्रजाजन सुरक्षित रहते हुए अपने महाराज के प्रति उसी प्रकार समर्पित थे जैसे सुसंतान अपने पिता के प्रति हुआ करती है।

किन्तु महाराज अश्वपति को एक गहरा मानसिक क्लेश था कि उनके कोई संतान नहीं थी। उनके पश्चात राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा। यह बड़ा प्रश्न उन्हें निरन्तर शूल की तरह चुभा करता था। वेदज्ञ ब्राह्मणों और ब्रह्मवेत्ता ऋषियों, महर्षियों के परामर्श से वेदमाता सावित्री देवी का पूजन अर्चन हुआ और १८ वर्षों तक राज दम्पति ने कठोर संयम, नियम, व्रत, अनुष्ठान आदि का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए भक्तिभाव से देवी की आराधना की। अंत में उनकी प्रसन्नता अर्जित करके महाराज अश्वपति ने एक कन्यारत्न का वर प्राप्त किया। जो कन्या जन्मी वह मानुषी होते हुए भी दिव्य तेज, शील और सुषमा से विभूषित थी। महाराज ने वर दायिका देवी के नाम पर इस कन्या का नाम सावित्री ही रखा।

जैसे जैसे सावित्री सयानी हुई, वैसे वैसे उसके मुख मण्डल पर दिव्य आभा का अवतरण होता गया और उसमें अभूतपूर्व गम्भीरता और बौद्धिक

प्रतिभा विकसित होती गई। उसने तीव्र गति से लौकिक और शास्त्रिय दोनों प्रकार का ज्ञान अर्जित कर लिया। महाराज और महारानी तो अपनी पुत्री को देख देखकर फूले नहीं समाते थे। महाराज के अन्तःपुर में तथा राजदरबार में सभी जगह सावित्री के रूप लावण्य के साथ उसकी गुण सम्पदा की चर्चा व्याप्त थी।

जब सावित्री ने केशौर्य को पार कर तारुण्य की देहरी पर चरण रखा तब महाराज को और विशेषकर महारानी को अपनी पुत्री के विवाह की चिन्ता सताने लगी। उन्हें देर रात तक नींद नहीं आती थी और इस प्रसंग पर घण्टों आपस में वार्तालाप करते रहते थे। चिन्ता का विशेष कारण यह था कि एक तो अपनी अद्वितीय पुत्री के लिये कोई उपयुक्त वर उन्हें मिल नहीं रहा था और दूसरे जो युवक सावित्री का देखते थे, वे हीनता के भाव से ग्रस्त होकर उसकी आँखों में आँखें डालकर उसे देख पाने का साहस ही नहीं कर पाते थे। वर की खोज में जब उनके बुद्धिमान और अनुभवी मन्त्रियों द्वारा दूर-दूर तक यात्रा और सम्पर्कों के बाद भी सफलता नहीं मिली, तब तो महाराज अश्वपति बेचैन हो गये। उधर राज़महिषी बार-बार उन्हें उलाहना देती थी कि बेटी पहाड़ सी बढ़ती जा रही है और उसका विवाह कब और कहाँ किया जायेगा। घर पर तो बेटी को आज तक कोई बाप बैठाकर नहीं रख सका है, फिर क्या होगा?

अंत में महाराज ने महारानी द्वारा सावित्री से ही कहलाया कि वह विश्वसनीय वयोवृद्ध मंत्रियों के संरक्षण में देशाटन करें और अपने वर की स्वय खोज करें। जैसे ही सफलता मिले वैसे ही यात्रा समाप्त करके लौट आयें और अपने निर्णय का विवरण निःसंकोच अपनी माताजी को बतला दें।

राजकुमारी सावित्री पिता सदृश्य वृद्ध मंत्री द्वय के साथ एवं अपनी चार समवयस्का सहेलियों के साथ यात्रा पर निकली। वेदपाठियों ने यात्रारम्भ पर स्वस्तिवाचन के साथ आशीर्वाद दिया। अनेकानेक तीर्थों एवं राजधानियों की यात्रा करते हुए जब राजकुमारी की रथयात्रा मद्र राज्य के दक्षिण-पूर्व में स्थित शाल्व देश के एक सघन वन से होकर जा रही थी, तब मुनियों के एक आश्रम के समीप सरितातट की वृक्षावलियों के रमणीक

परिसर में अनेक मुनिकुमारों को तरह-तरह के खेलों व प्रतियोगिताओं में संलग्न देखकर राजनन्दिनी ने अपनी सहेलियों के साथ सरिता के शीतल जल में स्नानादि करने और तटीय वृक्षों की छाया में भोजन विश्राम आदि के लिये पड़ाव डालने का आदेश दिया। मुनि कुमार मल्लयुद्ध करने, वृक्षों पर दौड़ते हुए चढ़ने, उतरने, स्कन्ध युद्ध, आँखों पर पट्टी बांधकर केवल शब्द के सहारे एक दूसरे को खोजने, पकड़ने आदि के खेलों और प्रतियोगिताओं में भाग ले रहे थे। राजनन्दिनी भी अपनी सहेलियों के साथ समीप ही एक ऊँची सी भूमि पर बैठकर उनके उत्साहपूर्ण क्रिया-कलापों को निहारने लगी। उस युवादल में एक युवक का गम्भीर, सौंदर्यपूर्ण, मुखमण्डल, गौरवर्ण, सुगठित और सुपुष्ट शरीर, ऊँचे कन्धे और विशाल वक्ष व भुजायें देखते ही बनती थी। उसके शुभ्र विशाल नेत्रों में चंचलता और संकोच का अद्‌भुत संयोग था। उसकी वाणी जलद गम्भीर और चाल शार्दूल जैसी निर्भय और स्वाभिमानपूर्ण थी। इतने सारे गुण और तेजस्विता शेष समस्त मुनिकुमारों में किसी के व्यक्तित्व में नहीं थी। लगभग सभी क्रीडाओं में वह सर्वाधिक सबल सिद्ध होता था और प्रतियोगिताओं में सबसे आगे बाजी मार ले जाता था।

राजपुत्री सावित्री की दृष्टि जिस क्षण उस युवक पर पड़ी उसी क्षण से मानों उसके नेत्र उसकी सौम्यदर्शना, शरीरयुष्टि से जा चिपके। हटे ही नहीं। अधिक सत्य तो यह था कि हटाये ही नहीं जा सके। मानों उन बड़े-बड़े कमल दल जैसे नेत्रों पर से नेत्रों की स्वामिनी का नियंत्रण सर्वथा उठ गया हो। बीच-बीच में उस युवक की दृष्टि जब भी इस अपरिचिता राजपुत्री की ओर उठी तब-तब उसने राजपुत्री को अपनी ओर टकटकी लगाये ही देखा और लगभग हर बार उसे अपने मन मष्तिष्क में एक अजीब सी विद्युत प्रवाह की अनुभूति हुई।

इस अभिनव आकर्षक अनुभूति से वह युवक भी पुनः पुनः राजकुमारी सावित्री की ओर देखने के लोभ का सम्वरण नहीं कर पा रहा था। घूम फिरकर उसकी आँखें उसी के मुख मण्डल पर जा चिपकतीं और उसके शरीर में एक मधुर गुदगुदी और रोमांच की लहर दौड़ जाती थी। सावित्री की चारों सहेलियां इन दोनों के दृष्टि व्यापार को बड़े गौर से देख

देखकर कुछ पढ़ रही थीं।

क्रीडाएं समाप्त होने पर, उसी युवक ने समधुर वंशीवादन किया। सब तल्लीन हो गये। वंशीवादन की तरंगें वातावरण में और उस युवक की तथा सावित्री की मनः तरंगें दृष्टि के माध्यम से एक दूसरे में व्याप्त हो गयीं उसके पश्चात एक ओजस्वी प्रेरक गीत गाया गया। आगे-आगे उसी मनहरण ने गाया तथा पीछे पीछे पूरे समूह ने दोहराया। वायुमण्डल में अनुपम दिव्यता और पवित्रता घुल गई।

राजकुमारी की सहेलियों से संकेत पाकर दोनों वृद्ध मन्त्री आश्रमवासियों के बीच जा पहुंचे और एक वृद्ध तापस से उस युवक तथा उसके परिवार के विषय में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ली। वह युवक मुनि कुमार नहीं, अपितु शाल्वदेश के महाराज द्युमत्सेन का पुत्र था। नाम था सत्यवान। जब वह बालक ही था तब महाराज शूरसेन के कुल में उत्पन्न महाराज द्युमत्सेन की नेत्र ज्योति चली गई थीं और उनके अंधे हो जाने का लाभ उठाकर उनके पड़ोसी राजा ने आक्रमण करके उन्हें राज्यच्युत कर दिया था। राज परिवार को राजधानी से निष्कासित होकर राज्य के सीमान्त पर स्थित घोर वन में शरण लेनी पड़ी थी। अन्ध महाराज द्युमत्सेन अपनी महिषी और बालक पुत्र के साथ तभी से इस आश्रम में निवास करते रहे थे। यहीं सत्यवान ने बाल्यावस्था से कैशोर्य और किशोरावस्था से तारूण्य में पदार्पण किया था। आश्रम के सभी निवासी - स्त्री, पुरुष, बाल-वृद्ध, युवा-युवतियां सत्यवान के शील, माता पिता की सेवा में उसकी अटूट लगन और उसके मधुर व्यवहार की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए नहीं थकते थे। राजकुमारी का यात्री दल राजधानी लौट आया। केवल सावित्री का मन नहीं लौटा। लौटी एक अविस्मरणीय चेहरे की छवि और हृदृतरंगों में अभूतपूर्व हलचल पैदा करने वाला सर्वथा नवीन यह भाव जिसे प्रणय पुकारा जाता है। लौटते हुए इस यात्री दल के साथ सत्यवान का हृदय भी अदृश्य रूप से आ मिला था।

प्रसन्न मुद्रा में लौटे हुए दोनों मन्त्रियों और चारों सहेलियों को देखकर सावित्री के माता-पिता हर्षविभोर हो गये और उनसे पूरा विवरण सुन कर परम संतोष का अनुभव करने लगे। महारानी ने अपनी

लज्जाशीला बेटी से धीरे धीरे सारा वृत्तांत जान लिया। महाराज अश्वपति और उनकी राजमहिषी दोनों को शांति तो अपार मिली, पर उनकी दुश्चिन्ता सर्वथा समाप्त नहीं हुई। महाराज द्युमत्सेन की श्रेष्ठ कुल परम्परा से तो वे परिचित थे ही। चिन्ता थी तो उनके राज्यच्युत निर्वासित वनवासी जीवन की। दोनों ने अपनी बेटी को पास बैठाकर बड़े दुलार से पूछा, ''बेटी तुम्हारा चयन तो हमें बड़ा आल्हादकारी लगा है। केवल चिन्ता की एक बात है कि तुम राजसी सुखों में पली पुसी हो और अत्यन्त सुकुमारी हो। भला वनवास की कठोर जीवनचर्या को कैसे सहन कर पाओगी? मानसिक उत्साह के साथ शरीर की क्षमता कदापि साथ नहीं दे सकेगी।

सावित्री ने अपनी माताजी को संबोधित करते हुए कहा, ''माताजी, जब सत्यवान को बाल्यावस्था में ही राजसी ठाटबाट छोड़कर वनवास के कष्ट भोगने पड़े होंगे तब तो वे उसकी तुलना में अधिक मृदुल और सुकुमार रहे होंगे न? भारतीय रमणीयाँ अपने पति के सुख में सुख और उनके दुख में दुख का अनुभव किया करती हैं। इसी में उन्हें स्वर्गीय आनन्द की अनुभूति होती है और फिर सत्यवान जैसा प्रारब्ध उसके परिवार के साथ भी तो वही खेल रचा सकता था। यदि उनके भाग्य ने भी उन्हें महाराज द्युमत्सेन की परिस्थितयों में ला पटका होता, तो क्या वे भी उसी दशा में अपना सुख नहीं खोज लेते?

अपनी बेटी के अकाट्य तर्कों और उसकी बुद्धिमानी तथा सूझ बूझ से महाराज अश्वपति और उनकी रानी का संतोष तो था किन्तु उनके हृदय को समाधान कदापि नहीं मिल रहा था। इसी उधेड़बुन में दिन व्यतीत होते रहे। एक दिन देवर्षि नारद का आगमन हुआ। राजसभा में उनका श्रेष्ठ सत्कार करने के बाद महाराज उन्हें अंतःपुर में लिवा लाये। भोजन करते हुए देवर्षि ने राजकुमारी सावित्री को देखकर उसकी सराहना करते हुए पूछा कि क्या उसके विवाह के विषय में विचार हुआ है या नहीं। महाराज अश्वपति ने देवर्षि नारद जी को महाराज द्युमत्सेन और उनके पुत्र सत्यवान का विवरण दिया। सुनते ही त्रिकालज्ञ नारदजी एकदम गम्भीर और उदास हो गये। कुछ पल मौन रहकर उन्होंने राजकुमारी को संबोधित किया ''बेटी इस वर का ध्यान त्याग दो। अभी तो वाग्दान की कोई रीति

भी नहीं हुई है। एक विचार तरंग ही तो मन में आयी है, चली भी जायेगी। उसे भुला दो राजकुमारी।''

सावित्री का मुख लज्जा और क्रोध के मारे तमतमा गया। महाराज अश्वपति नारद जी के त्रिकाल ज्ञान से सुपरिचित थे। अतः उनके शब्दों से उनका मन भी अज्ञात आशंका से हिल उठा। उन्होंने देवर्षि को टोकते हुए पूछा, ''देवर्षि' आप तो प्राणि मात्र के परम हितैषी हैं और आपके सत् परामर्श पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। तथापि हम जानना चाहते हैं कि क्या सत्यवान में सद्गुणों की कोई कमी है अथवा उनमें कोई दुर्व्यसन आ गये हैं अथवा उनका कुल उत्तम नहीं है?''

देवर्षि ने कहा ''नहीं राजन्, सत्यवान में कोई कमी लेशमात्र भी नहीं है। सत्यवान जैसा आंदर्श युवक तो मुझे कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ता। महाराज द्युमत्सेन की कुल परम्परा भी अति उत्तम है, किन्तु–किन्तु–'' आगे देवर्षि कुछ कहने से झिझकने लगे। महाराज ने उतावली के साथ पूछा, ''किन्तु क्या, महामते? हमें शीघ्र ही बतलाइये?'' सावित्री भी सिर झुकाये अपने मन और प्राणों को कानों में समेटकर नारदजी की ओर लगाये हुए थी। एक एक पल युग की भाँति व्यतीत होने लगा।

अन्ततः नारदजी ने विषादपूर्वक कहा ''राजन् ! सत्यवान अत्यन्त अल्पायु है। उसकी आयु आज से मात्र एक वर्ष शेष रह गई है। विवाह का अंत अनर्थकारी होगा। बेटी तुझे अपना विचार बदलना ही होगा।''

राजा-रानी अपनी बेटी को अंक में भरकर सिसकने लगीं थीं। उनके आँसू टप-टप गिरकर सावित्री की पीठ भिगोने लगे। महाराज अश्वपति भी देवर्षि के प्रस्ताव का दृढता के साथ अनुमोदन करते हुए बोले, ''बेटी सावित्री! देवर्षि का आज्ञा का पालन करो। ये तो हमसे भी अधिक तुम्हारे कल्याणकामी है।''

राजकुमारी के अधर फड़कने लगे। उसकी नासिका का अग्रभाग एकदम लाल हो गया। कुछ क्षणों तक गला भर आने से बोल नहीं फूटे। किन्तु आखिरकार दृष्टि भूमि में गड़ाये हुए वह कोमल किन्तु दृढ़वाणी में बोली'' पिताजी ! केवल अनुष्ठान ही विवाह की परिभाषा नहीं है। वरण

तो मन से होता है। और मैं पूरे मन से वरण कर चुकी हूँ। भारतीय नारियां एक बार - केवल एक बार पति का वरण करती हैं। फिर प्रारब्ध के विरुद्ध कोई मनुष्य चल सकता है क्या? देवर्षि से हमारी भेंट हो गई और वे त्रिकालज्ञ हैं तो उन्होंने भविष्य का चित्र स्पष्ट कर दिया, पर यदि उनके आगमन का संयोग नहीं हुआ होता और विवाह के पश्चात वह सब घटित होता जिसकी संभावना बतलाई जा रही है, तब क्या होता? यदि मेरे प्रारब्ध में वैधव्य सुनिश्चित है तो मैं उससे भागकर कहां जा सकती हूं? और कोई कितना ही बड़ा हितैषी क्यों न हो, मेरे प्रारब्ध को मोड़ सकता है क्या? अतः मैं विवाह करूंगी तो अपने निर्धारित वर के साथ, अन्यथा विवाह करूंगी ही नहीं। मेरा निर्णय कदापि नहीं बदलेगा।'' वाक्य पूरा होते न होते वह उठी और देवर्षि के चरणों में प्रणाम निवेदित करके अंतः प्रकोष्ठ में जा छिपी। राजदम्पति और नारदजी चिन्तन में डुबे हुए बैठे के बैठे रह गये। काफी देर बाद उठते हुए देवर्षि ने कहा ''राजन् सावित्री बेटी के संकल्पानुसार ही विवाह कर दीजिए। उसके दृढ़ मनोबल में प्रारब्ध से भी टकराने का दम खम है। धन्य है तुम्हारी बेटी।'' देवर्षि ने सावित्री को बुलाकर उसे ''अखण्ड सौभाग्यवती हो।'' कहकर आशीर्वाद दिया और विदा हो गये।

* * * * * *

महाराज अश्वपति अपने दोनों वृद्ध मंत्रियों को साथ लेकर महाराज द्युमत्सेन के आश्रम पर गये और प्रणाम के पश्चात परस्पर क्षेम कुशल के संबंध में प्रश्नों प्रति प्रश्नों का आदान प्रदान हुआ। फिर महाराज अश्वपति ने सत्यवान को अपने दामाद के रूप में वरण करने का प्रस्ताव किया। आश्रमवासियों के मन में आये अनुमानों के रूप में यह बात महाराज द्युमत्सेन और उसकी धर्मपत्नी के कानों में आ चुकी थी। अतः राज्यच्युत होने की बात बतलाकर अपना संकोच प्रकट करते हुए उन्होंने अंततः प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। शीघ्र ही शुभमूहूर्त में पूरे राजसी ठाट बाट के साथ सावित्री और सत्यवान परिणय के सूत्र में बंध गये। महाराज ने बहुमूल्य वस्त्राभूषण, हीरे-मोती, रथ, पालकी, सुखासन आदि दहेज में दिये। किन्तु यह देख-सुनकर अन्धे द्युमत्सेन उनकी पत्नी और पुत्र की

आँखें छलछला आयीं कि विदा होते ही उस सरल हृदया राजपुत्री सावित्री ने राजसी वैभव के सभी उपकरण त्याग कर पतिगृह के अनुरूप साधारण वस्त्र धारण कर लिये।

वन में शाल्वराज के आश्रम पर पहुँचकर सावित्री ने अपनी सादगी, सेवा- परायणता और मधुर संबोधन तथा गृह परिचर्या से सबका मन मोह लिया। यही नहीं उसके कठोर व्रत अनुष्ठान आदि ने समस्त आश्रमवासियों की अपार प्रशंसा अर्जित कर ली। सब तरह के सुखों में पली और अब उनको सर्वथा त्याग कर इतने कठोर व्रत के अनुष्ठान में लगीं, अपनी पुत्रवधू को सत्यवान की माता ने कई बार अत्यन्त स्नेहपूर्वक मना किया। पर किसी को क्या मालूम कि सावित्री तो अपने पति की आयु सीमा विदित हो जाने से उसके कोमल मन में भय मिश्रित विषाद और घोर चिन्ता घर किये हुए थी और वह पति की प्राण रक्षा हेतु सभी सम्भव प्रयास कर लेना चाहती थी।

सचेत कालगणना को सतत स्मरण रखते हुए जब सावित्री को अपने पति की आयु में केवल तीन दिन-रात शेष दिखलाई दिये, तब उसने निरन्तर निरम्बु और निराहार रहकर बिना सोये यमराज की निरन्तर स्तुति करते हुए अपने पति की दीर्घायु के लिये याचना करती रहती थी और एक क्षण के लिये कभी पति को आंखों से ओझल न होने देकर छाया की तरह उसके साथ रहती थी। अपनी बढ़ती हुई शारीरिक दुर्बलता की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नहीं था।

अंत में दुश्चिन्ता की आग को अधिकाधिक धधकाते हुए तीसरा दिन भी आ पहुंचा। प्रभात से ही सावित्री अपने पति के इर्द-गिर्द ही मंडराती रही। सत्यवान और उनकी माताजी को उसका यह व्यवहार कुछ विचित्र लगा किन्तु उनकी यह जिज्ञासा उसकी अथक सेवा भक्ति से स्थायी भाव में दबकर रह गई। सावित्री मन ही मन सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ 'महामृत्युंजय' का जाप करती जा रही थी।

तीसरा पहर आ पहुंचा। सहसा सत्यवान के मन में विचार आया कि पूर्णिमा की रात होने से वन की शोभा दर्शनीय होगी। अतः कन्दमूल, फल और अग्निहोत्र के लिये समिधाएँ बटोर लाने के लिये छोटी सी कुल्हाड़ी

और एक डलिया लेकर वह चलने लगा। सत्यवान के माता-पिता ने उसे निशागम के समय वन में प्रवेश करने से रोका और स्मरण दिलाया कि मांसाहारी जन्तु संध्या की बेला में हिंसक हो उठते हैं और उपद्रवी हो जाते हैं। अंधेरे में मार्ग भी दिखलाई नहीं पड़ता। पगडंडियों का तो कहना ही क्या? पर सत्यवान ने कह दिया कि वन के सभी मार्गों और पगडंडियों पर वह आँख बन्द रखकर भी जा सकता है और कुल्हाड़ी ही सही एक शस्त्र उसके हाथ में रहते हुए कोई भी हिंसक जन्तु उसको आँच नहीं पहुँचा सकता। उधर सावित्री ने भी कटिवस्त्र को कसकर बाँध लिया और पति के हाथ से टोकरी लेकर उसके पीछे पीछे चल दी। सत्यवान की आनाकानी और सास के समझाने-बुझाने को बड़े स्नेह से उसने यह कहकर टाल दिया कि जिस व्रत को वह धारण किये हुए है उसके अनुसार उसे एक क्षण के लिये भी पति से दूर नहीं रहना चाहिए।

दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए बड़ी देर तक कन्द मूल, फल एकत्रित करते रहे। कुल्हाड़ी से सूखी टहनियाँ काट काटकर ईंधन का छोटा सा गट्ठा भी बाँध लिया। अब वे एक वृक्ष तले झरे हुए पत्तों को समेटकर उन पर विश्राम हेतु बैठे ही थे कि सत्यवान के सिर में तीव्र वेदना हुई और वह छटपटाहट के साथ भूमि पर लेट गया। सावित्री ने पति को अपनी गोद में लिटाकर उसके सिर को अपने वक्ष से चिपटा लिया और हल्के हाथों उसके माथे को दबाने लगी। साथ ही उसके कान खड़े हो गये और वह पूरी सावधानी से चारों ओर घूरने लगी। कुछ ही पलों में सत्यवान यह कहते हुए अचेत हो गये कि उनका हृदय ऐंठ रहा है और शायद उनका अंतिम समय आ पहुंचा है। सावित्री को तो उनकी मृत्यु का क्षण एक पल के लिये भी नहीं विसरा था। वह पति को अंक में भरे चतुर्दिक दृष्टि दौड़ाती हुई चौकन्नी थी। इस अवस्था में दो-चार पल ही बीते होंगे कि सावित्री को समीप ही एक छाया जैसी आकृति प्रकट होते हुए दिखलाई दी। वह उन दोनों की ओर बढ़ने लगी। अब सावित्री को समीप ही एक छाया जैसी आकृति प्रकट होते हुए दिखलाई दी। वह उन दोनों की ओर बढ़ने लगी। अब सावित्री को स्पष्ट दिखलाई पड़ा कि एक श्यामवर्ण का चमकती हुई मुखाकृतिवाला ऊंचा पुरुष लाल वस्त्र एवं मुकुट

धारण किए पास आकर स्थिर हो गया है। उसके एक हाथ में मुष्टिका तथा दूसरे हाथ में एक रस्सी थी जिसके लटकते हुए छोर पर एक फाँस बनी हुई थी। सावित्री ने बेसुध पति को धीरे से भूमि पर लेटाया और खड़े होकर प्रणाम करते हुए बोली "हे महामहिम, आपको पहले कभी न देखे हुए भी मैं विश्वासपूर्वक कह सकती हूं कि आप मृत्यु के अधिष्ठाता सूर्यपुत्र यमराज ही हैं। आपको मेरा शत् शत् प्रणाम।"

यमराज ने कहा, "बेटी, तुमने ठीक पहचाना है। तुम्हारे व्रत, संयम, ध्यानादि से बंधा हुआ मैं स्वयं ही तुम्हारे सामने प्रत्यक्ष आने के लिये बाध्य हो गया हूँ। मैं तुम्हारे पति की जीवात्मा को ले जाने के लिये आया हूं। क्योंकि अब इनकी आयु पूरी हो गई है। बेटी, मृत्युलोक में हर किसी की आयु निर्धारित होती है और उसे एक पल भी घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं है। अतः मैं विवश हूं। मुझे क्षमा कर देना।" इन शब्दों के साथ ही उन्होंने सत्यवान के अंगुष्ठभर के सूक्ष्म जीवात्मा को अपने हाथ की रस्सी के फंदे में बांधा और मुड़कर दक्षिण दिशा में अपने लोक की ओर चल दिये। सावित्री भी अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति के सहारे उनके पीछे पीछे चल दी।

यमराज ने मुड़कर उससे कहा "बेटी, असम्भव के लिये प्रयास न करो। अब तुम समेत समस्त संसार का तुम्हारे पति पर कोई अधिकार नहीं रहा। अतः मोह छोड़कर लौट जाओ और परलोक में पति की सद्‌गति हेतु उनके दाह तर्पण आदि कर्तव्यों को मन लगाकर पूरा करो।"

सावित्री ने उत्तर दिया, "हे यम, मैंने तो अपने गुरुजनों के मुख से यही सुना है और धर्मग्रन्थों में भी यही पढ़ा और समझा है कि पति जहाँ-जहाँ जाय अथवा ले जाया जाये वहाँ वहाँ उसके साथ रहना ही पत्नी का एकमात्र कर्तव्य है। आपने मुझे "बेटी" कहकर पुकारा है तब अपनी पुत्री को अधर्म की ओर क्यों धकेलना चाहते हैं?" यम ने द्रवित होकर कहा, "बेटी, मैं तुम्हारे विचारों से और वाणी से बहुत प्रभावित हुआ हूँ। सत्यवान के प्राणों को छोड़कर तुम कोई भी वर माँग लो और लौट जाओ। मैं वास्तव में तुम्हारे कल्याण की कामना करता हूँ।" सावित्री ने अपने श्वसुर महाराज द्युमत्सेन की नेत्रों की ज्योति और उनका खोया हुआ राज्य

माँगा जिसे यमराज ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया।

किन्तु सावित्री को फिर भी अपने पीछे-पीछे आते देखकर यमराज पुनः मुड़े और बोले, "पुत्री! तुमने शक्ति से बाहर केवल मनोबल के कारण ही अभी तक मेरा पीछा किया है किन्तु मृत्यु लोक में इसके आगे किसी की भी गति नहीं है। अस्तु, अब तुम लौट जाओ।" सावित्री ने अविचलित रहकर उत्तर दिया, "महाराज यदि सप्राण नहीं तो मेरे प्राण लेकर ही मुझे अपने पति के साथ चलने की अनुमति प्रदान कीजिए। क्योंकि पतिव्रता पत्नी के लिये यही करणीय है। संसार के लोग भले ही आपको निर्दय और निर्मोही कहें पर मुझे तो आपके नेत्रों में करूणा का सागर ही लहराता हुआ दिखलाई दे रहा है। मुझ पर कृपा कीजिए।" यम ने कहा, "बेटी जिस प्रकार मैं किसी की आयु समाप्त होने पर उसके प्राणों को एक पल भी उसकी देह में रहने नही देता उसी प्रकार आयु समाप्त होने के एक पल पहले भी किसी के प्राण नहीं ले सकता। तू सत्यवान के प्राणों को छोड़कर इच्छानुसार एक वर और मांग ले और अब लौट जा।" यमराज का हृदय दयाद्र होकर उमड़ रहा था। इस बार सावित्री ने अपने पिता के लिये सौ दीर्घायु पुत्रों की याचना की क्योंकि उनके राज्य का कोई उत्तराधिकारी नहीं था। यमराज ने सहर्ष यह वरदान दे दिया और आगे बढ़ चले।

किन्तु सावित्री ने उनका अनुसरण फिर भी नहीं छोड़ा। उसके मनोबल की कोई सीमा नहीं थी। यमराज ने अबाध गति से पीछे आती हुई सावित्री की पदचाप पुनः पुनः सुनी और मन ही मन उसके साहस और संकल्प की प्रशंसा करते हुए सोचा, "अहो महामुनियों के लिये भी असाध्य व्रत का अनुशीलन करके इस पति परायणा राजकन्या ने मेरे जैसे दुंराराध्य को भी कैसा दयालु बना दिया है, अन्यथा कठोरतापूर्वक शासन करने के लिये तो स्वयं भगवान कृष्ण ने श्री श्रीमद्भगवद् गीता में मुझे अपनी विभूति से सम्पन्न बतलाया है। "यमः संयमतामहम्" - फिर प्रकटतः सावित्री से बोले, "बेटी, तुमने अपनी हठ नहीं छोड़ी। अपनी कठिनतम साधना के कारण ही तुम मेरे पीछे चल पा रही हो। किन्तु अब मेरा अनुरोध मानकर लौट जाओ। तुमने अपने पतिकुल और पितृकुल दोनों

का हित साधन भी कर लिया है। निसर्ग की मर्यादा को अमान्य न करो बेटी।'' सावित्री ने पुनः अपने सत्याग्रह की अटलता को मुखरित करते हुए कहा, ''हे महाराज! इस असार संसार में सत्संग को ही सार माना गया है और सत्संग का सुफल भी अवश्यमेव मिलता है। मुझे मेरे पति के और आपके समान श्रेष्ठ सतपुरुषों का संग मिला है। जो अमोघ है। भला उसे त्याग कर मैं क्या पाने के लिये लौट जाऊँ? आप तो साक्षात् धर्मराज हैं। अंतर्यामी होने के नाते स्वयं ही मेरी मनःस्थिति से परिचित हैं।'' यमराज भी सावित्री के सात्विक तर्कों के समक्ष स्वयं को पराजित हुआ अनुभव करने लगे। उन्होंने कहा, ''सावित्री बेटी मैं तेरे निर्लिप्त विवेक से परम संतुष्ट हूँ और तुझे वरदान दे देकर भी मेरा मन कुछ और देने की इच्छा रखता है। अस्तु, तू इच्छानुसार एक और वरदान मांग ले।'' सावित्री ने इस बार आत्यन्तिक संतोष का अनुभव किया। क्योंकि इस बार यमराज ने वरदान के लिये कोई सीमा नहीं बाँधी थी। अतः उसने तुरन्त कहा ''हे महामहिम ! मुझे अभी तक पति से कोई संतान प्राप्त नहीं हुई है। अतः कृपा करके मुझे १०० पुत्र प्राप्त होने का वरदान दीजिये। यमराज का मन सावित्री के तप और त्याग के विषय में सोचते हुए इतना तल्लीन था कि उनके मुख से तुरन्त ''एवमस्तु'' निकल गया। अगले ही क्षण उन्हें अपनी भूल विदित हो गई, पर वे उस भूल पर पछताए नहीं, प्रसन्न ही हुए। किन्तु ऊपर से कठोर स्वर में सावित्री से पूँछने लगे, ''अब मेरा अनुसरण किसलिये? अब तो तुम्हें लौट जाना चाहिए न?''

सावित्री ने शीश नवाकर निवेदन किया, ''महाराज आपके इस तीसरे वरदान की पूर्ति कैसे होगी? क्या मेरे पति के प्राण लौटाये बिना मुझे उनसे सौ पुत्र प्राप्त होने का आपका आशीर्वाद सफल हो पाएगा? कृपा करके इस पहेली का हल आप मुझे बतला दें तो मैं अवश्य लौट जाऊँगी।''

यमराज ने अनुभव किया कि उस पतिव्रता देवी ने उन्हें उनके ही तर्कों में बाँधकर रख दिया हे। वे मुस्कराये और सावित्री के सिर पर हाथ फेरते हुए बोले, ''बेटी मैं पराजित हो गया हूँ और तूने मुझ पर विजय प्राप्त कर ली है। सुखी रह बेटी। अब मैं तेरे पति के जीवात्मा को

मृत्युपाश से मुक्त करता हूँ और तुझे और तेरे इस पुण्यात्मा पति को अपनी ओर से चार-चार सौ वर्ष का दीर्घ जीवन प्रदान करता हूँ। जा तेरा पति तेरी प्रतीक्षा कर रहा है।'' - इतना कहकर यमराज अंतर्ध्यान हो गये।

सावित्री हर्षोत्फुल्लता के साथ शीघ्रतापूर्वक वहाँ आयीं जहाँ अपने पति की मृत देह को छोड़ गई थी। उसने सुखद आश्चर्य के साथ देखा कि सत्यवान उठकर बैठा हुआ है और उसको खोजने के लिये चारों ओर दृष्टि घुमा रहा है । उसे देखते ही वह खड़ा हुआ और अपनी प्रिया को प्रगाढ़ आलिंगन में भर लिया। फिर लौटते हुए सत्यवान ने स्वप्न में एक काले वर्ण के विकराल पुरूष को देखने की बात कहीं जो उन्हें बलात् एक ओर को खींचे ले जा रहा था। सावित्री ने देवर्षि नारद की भविष्यवाणी से लेकर उस रात्रि तक का सम्पूर्ण विवरण पति को सुनाया। सत्यवान ने अपनी यमजेत्री पत्नी को पुनः हृदय से लगा लिया।

आश्रम पर लौटकर सत्यवान ने देखा कि उनके पिता की नेत्र ज्योति लौट आयी है। उसी प्रमाण की ओर इंगित करते हुए उन्होंने अपने माता-पिता को अपनी मृत्यु और सावित्री द्वारा यमराज से उनके प्राणों के साथ अनेक वरदान प्राप्त करने का आद्योपान्त विवरण सुना दिया। वृद्ध दम्पति के सुख का पारावार न रहा। अगले दिन ही राजधानी से मंत्री, सेनापति आदि आ गये और उन्होंने शत्रु को मार भगाने की सूचना दी तथा उन्हें सादर लिवा ले गये। द्युमत्सेन को अपना राज्य वापिस मिल गया। महाराज ने कुछ दिनों के बाद अपने तरुण पुत्र को अभिषिक्त करके संन्यास ग्रहण किया। सत्यवान ने सुदीर्घ काल तक सावित्री के साथ धर्मपूर्वक राज्य सुख भोगा। कालान्तर में सावित्री ने और उनकी माताजी ने यमराज के वरदान के अनुसार सौ सौ बलवान पुत्रों को जन्म दिया।

मृत्युलोक में सर्वथा अलौकिक यमजेत्री सती सावित्री के इस कथानक को पुनः लिपिबद्ध कर मेरी लेखनी पवित्र हुई एवं इसे अपनी धन्यता मानती है और कामना करती है कि इस पवित्र देश भारत की नारियाँ पश्चिम के भौतिक अधिकारवाद की बाढ़ में न बहकर अपनी आध्यात्मिक धरोहर को अक्षुण्ण बनाये रख सकेंगी।

— * —

५. जनकनन्दिनी सीता

जिस कथानक का आरम्भ किया जा रहा है वह त्रेता युग के मध्यभाग में घटित हुआ था। विश्रवानन्दन कुबेर को पुष्पक विमान पर आरुढ़ होकर गगन विहार करते हुए देखकर दैत्यराज सुमाली की पुत्री केशिनी या कैकसी अत्यन्त ईर्ष्यालु हो गई और कुबेर जैसा ही प्रतापी पुत्र प्राप्त करने की आकांक्षा से प्रेरित होकर उनके पिता महामति पुलस्त्यनन्दन विश्रवाजी के साथ विवाह का हठ करने लगी। अंततः सुमाली को विवश होकर उसे ले जाकर विश्रवाजी को सौंपना ही पड़ा। विश्रवाजी के संयोग से इस कैकसी ने दो पुत्रों और एक पुत्री को जन्म दिया। रावण, कुम्भकरण और सूर्पनखा। तीनों ही विकराल, नृशंस और कामुकता के वशीभूत थे। पापाचारों में दिन रात लिप्त रहना ही उनका जीवनादर्श था। ''यावज्जीवेत् सुखम् जीवेत्'' के पोषण ने इन तीनों को तामसी तपस्या से प्राप्त शक्ति ने उन्मत्त बना दिया। सबसे पहले अपने बड़े भाई कुबेर से स्वर्णमयी लंकापुरी और पुष्पक विमान छीनकर रावण ने अपना विजय अभियान आरम्भ किया और शीघ्र ही भरतखण्ड में सर्वत्र उसका आतंक छा गया। दशग्रीव रावण को मय-तनया 'मंदोदरी' नाम की अत्यन्त सुन्दर पत्नी प्राप्त हुई तो भी वह आये दिन सुन्दरी देवांगनाओं, गंधर्व कन्याओं, किन्नारियों नागलोक की रमणियों और यहाँ तक कि तापसियों को भी अपनी कामुकता का शिकार बनाने लगा। उसके घोर अत्याचारों से संसार त्रस्त और आतंकित हो गया।

दक्षिण भारत के किष्किन्धा (वर्तमान कर्नाटक) नामक प्रदेश के राजा वानरराज बालि, नागलोक (आधुनिक आन्ध्र) के अधिपति दैत्यराज बलि

और मध्य भारत (वर्तमान मध्य प्रदेश एवं दक्षिणी राजस्थान) के नरपति कार्तवीर्य सहस्रार्जुन तीनों से युद्ध में परास्त होकर भी भोग प्रधान जीवन की समान प्रवृत्ति के कारण रावण ने महर्षि अगस्त्य के क्षेत्र दण्डकारण्य और जन स्थान (आधुनिक महाराष्ट्र) में खर-दूषण-त्रिशिरा नामक अपने चचेरे भाईयों को शासक नियुक्त कर दिया और वे इस भूभाग पर रावण की बहिन सुपर्णखा की भोग भूमि बना देने में पूर्ण सहयोगी हुए। इसी प्रकार उत्तरी भारत में कौशल प्रदेश (वर्तमान पूर्वी उत्तर प्रदेश) और मैथिल प्रदेश (वर्तमान उत्तरी बिहार एवं दक्षिणी नेपाल) के बीच व्यवधान खड़ा करने के लिये महर्षि विश्वामित्र के सिद्धाश्रम (आधुनिक बिहार का दक्षिणी भाग) में रावण ने अपनी दूर के रिश्ते की नानी ताड़का और उसके मायावी पुत्रों-मारीच और सुबाहु को नियुक्त कर दिया। मानों वह दशग्रीव रावण अपने बीस हाथों से जन जीवन का रक्त चूसता हुआ निर्द्वन्द्व और निरंकुश हो गया। रावण ने कोसलेश महाराज अनरण्य को और उसके पुत्र मेघनाद ने देवराज इन्द्र को पराजित किया और समस्त नृपति मण्डल ने शीश नवाकर उसकी आधीनता स्वीकार की। अब कोई भी उसकी और उंगली उठाने का साहस नहीं कर सकता था।

अपनी तरुणावस्था के इसी दौर में रावण एक बार हिमालय की उपत्यकाओं की सुदीर्घ वनराजियों में विचरण करता हुआ एक रमणीक आश्रम में जा पहुंचा। उसने अपने अश्व को आश्रम के बाहर एक वृक्ष से बांध दिया और उसके पुट्ठों पर लदे आखेट में मारे हुए एक मृग को उतारा। बायें हाथ से उसे घसीटते हुए, दाहिने हाथ में भारी शूल थामें वह आश्रम में घुसा। उसने अनुमान लगाया था कि उसमें कोई तपस्वी निवास करता होगा और उसकी वेदिका धधकती हुई आग का उपयोग करके उसमें उस मृग का मांस भूनकर वह खाएगा और विश्राम करते हुए भय से सहमे उस तपस्वी को डराता धमकाता हुआ अट्टहास के साथ खिलखिलाएगा। उसे तापसों को सताने में विशेष आनन्द आया करता था।

किन्तु आश्रम के प्रांगण में पहुंचते ही उसकी आँखें खुली की खुली रह गईं। उसने देखा कि एक अत्यन्त तेजस्विनी गौरांगी तरूणी एक ऊँचे और समतल शिलाखण्ड पर आसन लगाये ध्यानमग्न है। वह अपनी क्षुधा,

पिपासा और थकावट को एकदम भूल गया और इस सुन्दरी को देखकर विचलित हो गया। भूखे भेड़िये की तरह लपकते हुए उसके भारी कदमों की धमक से तपस्विनी की समाधि टूट गई और वह तत्क्षण उस नर पिशाच की आँखों में भड़कती हुई कामाग्नि को देखकर काली के समान विकराल हो गई। वह उठ्कर खड़ी हुई और गरज कर बोली, "अरे दुष्ट! दूर रह। अपने अपवित्र हाथों से मुझे छूने का दुस्साहस मत कर, अन्यथा मैं भीषण शाप दूँगी और तू अपने मंतव्य में सफल नहीं हो पायेगा। मैं देखते ही देखते अपने प्राणों का त्याग कर दूंगी।"

रावण उसके तेज से थोड़ी देर के लिये ठिठ्ककर रह गया और धीरे से बोला, "सुन्दरी। तुम्हें तो मेरे जैसे किसी प्रतापी नरेश की पटरानी होना चाहिए। भला तुम्हें योग का यह रोग कहां से लग गया? मैं लंका का राजा रावण हूँ। तुम्हें अपनी भोग्या बनाकर ही दम लूँगा। मुझे अपने शाप वाप का भय मत दिखलाओ और इस चढ़ती जवानी में अपनी सुंदर देह को आत्महत्या करके व्यर्थ क्यों गंवाओगी?" इन शब्दों के साथ धीरे-धीरे कदम बढ़ाता हुआ रावण तपस्विनी की ओर बढ़ने लगा। वह उसे अपनी बांहों में समेटकर निरुपाय कर देना चाहता था ताकि वह अपने प्राण त्याग की अपनी धमकी को किसी प्रकार क्रियान्वित ही न कर पाये। उस बाला ने कड़ककर कहा "अरे दुष्ट मेरा नाम वेदवती नहीं यदि मैं तेरे हाथ आ जाऊँ। मैं तुझे शाप देती हूँ कि भविष्य में तू जब भी किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध अपनी अंकशायिनी बनाने की नियत से पकड़ेगा, उसी क्षण तेरे मस्तिष्क के सौ टुकड़े हो जायेंगे।

इतना कहकर वेदवती ने अपने गले में पड़ी हुई रुद्राक्ष माला को खींचकर तोड़ दिया और भूमि पर बैठ्कर उसके बिखरकर लुढ़कते हुए मनकों में से एक बड़ा रुद्राक्ष अपने कण्ठ कूप में गड़ाते हुए अपने गले को दोनों हाथों से इस प्रकार दबाया कि दोनों अंगूठों के सहारे हाथों का पूरा बल कण्ठ कूप के उस रुद्राक्ष पर ही पड़े। साथ ही उसने अपना श्वांस बाहर निकाल कर बाह्य कुम्भक के द्वारा उसे बाहर ही रोक दिया। कितना आश्चर्यजनक मनोबल था वेदवती में कि उसके दांत भिंच गए, जीभ कट गई, आंखें बाहर निकल आयीं और पूरा शरीर छटपटाया, पर क्या मजाल

कि उसके हाथों के कसाव में रंचमात्र भी शिथिलता आयी हो। दो चार पलों में ही वह निष्प्राण होकर धराशायी हो गई। उसके दोनों हाथ अब भी उसके गले को कसे हुए जड़ हो गए थे। यह सारा कृत्य इतनी द्रुतगति से हुआ कि रावण "हें हें अरी, क्या करती है? रूक तो!" कहता हुआ जब तक कुछ करने की बात सोचे सोचे तब तक तो उसके सामने ही वह अप्रतिम सुन्दरी वेदवती दम तोड़ चुकी थी। रावण ने ऐसा उत्सर्ग और ऐसा दुस्साहसी दृढ़ मनोबल पहली बार देखा और वह त्रिलोकी को कंपाने वाला दुर्धर्ष राक्षसराज दोनों हाथ मलता रह गया। प्राण छोड़ते हुए वेदवती ने अपने मन में रावण से प्रतिशोध लेने का दृढ़ संकल्प किया था। यही कारण था कि उसने पुनःजीवन धारण किया और पृथ्वी से प्रकट होकर वह परमेश्वर की आदिशक्ति के साथ संयुक्त होकर अयोनिजा भूमिपुत्री सीता के रूप में मिथिलेश जनक को प्राप्त हुई।

इस घटना से बौखलाकर और ऋषियों, मुनियों के प्रति अपने सहज हिंसाचार के वशीभूत रावण ने जहाँ तहाँ आश्रमों और गुरुकुलों में अपने क्रूर अनुचर भेजे और तपस्वियों से राज कर मांगने का उपक्रम किया। भारत के किसी भी राज्य में कभी भी आश्रमों के निवासियों को कराधान के अंतर्गत नहीं लाया गया था। भला वन उपज पर, गोधन पर और ग्रामीणजनों के भिक्षान्न पर ही तो ये निरीह तापस अपनी साधारण आवश्यकताएँ पूरी करके गहन तपश्चर्या में जीवन लगाया करते थे। उनसे राज कर मांगने की परम्परा इस देश में कभी नहीं रही।

सर्वत्र ऋषियों, मुनियों और तापसों में खलबली मच गई। यों भी वे नरभक्षी राक्षसों की कृपा पर जीवित थे। उनके द्वारा भक्षण किये गये हजारों यतियों और साधुओं की अस्थियों के बड़े-बड़े ढेर वनों की वीरानियों में जगह-जगह देखे जा सकते थे। सबने विचार किया और समवेत रूप से निश्चय करके एक बड़े घट में अपनी अपनी देह से थोड़ा-थोड़ा रक्त संचित करने लगे इस प्रकार पूरा भर जाने पर वस्त्र से उसका मुंह भली प्रकार बाँधकर उन्होंने वह घट रावण के दूतों को इस संदेश के साथ सौंप दिया, - "यही राज कर है। किन्तु सावधान इस घट के उघड़ते ही खोलने वाले का सर्वनाश सुनिश्चित है।"

रावण तपस्वियों के प्रभाव को जानता था। तपस्या के द्वारा ही तो उसने देवताओं, दानवों, यक्षों, गंधर्वों आदि सभी के विरुद्ध युद्धों में अजेयता और अवध्यता की शक्तियां प्राप्त की थीं। अतः मुनियों और तपस्वियों के संदेश को सुनकर उसका अंतर्मन हिल गया। उसने कहा, "इस घट को मिथिला या कौशल राज्य में ले जाकर कहीं पृथ्वी में गाड़ दो। न रहे बांस और न बजे बांसुरी।"

दूतों ने उसे मिथिलापुरी के बाहर एक खेत में ले जाकर धरती में गाड़ दिया। रावण के घोर अत्याचारों के विरुद्ध प्रबुद्ध वर्ग की रोषपूर्ण अहिंसक प्रतिक्रिया ही थी वह! जिसको उस रक्त घट के रूप में रावण ने अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार निष्प्रभावी कर दिया और वह नराधम निश्चिंत होकर अपने कुत्सित आचार- विचारों को देवभूमि भारत की छाती पर बलात् लादते हुए अपने अहंकार में प्रमत्त होता गया।

* * * * * *

वसिष्ठ जी द्वारा शापित महाराज निमि ने जब अपना शरीर छोड़ दिया, तब उनकी मृत देह के मंथन से जनक का जन्म हुआ। तभी से उनके वंशजों को मिथिलेश और विदेह की उपाधियों से विभूषित किया जाने लगा और उनकी राजधानी मिथिलापुरी कहलाई। इसी वंश में आगे चलकर बीसवीं पीढ़ी में महाराज शीरध्वज जनक हुए।

रावण द्वारा पृथ्वी में दबाये गये रक्त घट के प्रभाव से अथवा क्रुद्ध काल चक्र के गतिमान होने से मिथिला राज में भयंकर सूखा पड़ा। कई वर्षों तक वृष्टि नहीं हुई। जनजीवन संत्रस्त होकर निराशाग्रस्त हो गया। मिथिलापति विदेहराज जनक ने अपने पुरोहित गौतम नन्दन सतानन्द जी से पूछा कि ज्योतिर्विदों की व्यवस्था के अनुसार अनावृष्टि के संकट से बचने का उपाय क्या है? उन्होंने अपना अभिमत इस प्रकार व्यक्त किया, "अनावृष्टि से कृषक वर्ग निराशावादी हो गया है। उसमें पुनः आशावादिता का संचार करने के लिये और उसे दैव के सहारे बैठकर पुरुषार्थ हीन बने रहने की अकर्मण्यता से उबारने के लिये यज्ञ, हवन आदि से भूमि पूजन करके आपको राजमहिषी के साथ स्वयं खेत में हल चलाना चाहिए। महाराज श्री शीरध्वज जनकजी ने ऐसा ही किया। जब महाराज और

महारानी हल की मूठ दबाकर खेत जोत रहे थे तब इस सामूहिक खेती के प्रथम प्रयास के परिणामस्वरूप दो चमत्कार हुए।

खेत के ईशानकोण में हल चलाते ही उसकी नोंक एक स्थान पर अटक गई। मिट्टी हटाने पर एक फूटा घट दिखलाई पड़ा। जिसका मुख अभी भी वस्त्र से बंधा हुआ था। और उसके समीप अग्निशिखा जैसी दमकती हुई एक कन्या दिखलाई पड़ी। यह पहला चमत्कार था जो महाराज जनक और महारानी सुनयना जो इस समय तक संतान हीन थे, इस कन्यारत्न को पाकर गद्‌गद् हो गये। तुरंत उस दिव्य आभामण्डित कन्या को राजमहल में ले जाकर औषधियुक्त जल से संस्कारित किया और मखमली झूले में लिटा दिया। वात्सल्य के उद्रेक से महारानी का स्तन्य स्वतः बह निकला। हल की नोंक को 'सीत' कहा जाता है। अतः कन्या का नाम रखा गया 'जनकनन्दिनी सीता'। राज्यभर में भूमि से प्रकट हुई इस कन्या के विषय में चर्चाएँ होने लगीं। दूसरा चमत्कार यह हुआ कि तत्काल व्यापक वर्षा हुई और दुष्काल की विभीषिका से राहत पाकर जनमन सुखी होकर मयूर जैसा नाच उठा।

जनक ने अपनी भार्या से कहा, "प्रिये। अपनी भाग्यलक्ष्मी बनकर ही आई है यह भूमि सुता। प्रकट होते ही अनावृष्टि की समाप्ति और सुकाल का आरम्भ! कैसा दिव्य लक्षण बन गया है इस कन्या का। अवश्य ही विदेह वंश के संचित पुण्यों का परिणाम है कि हम संतानवान हो गये और ऐसी देव दुर्लभ कन्या प्राप्त हो गई।"

चन्द्रकला के समान सीता जैसे-जैसे बड़ी होने लगी वैसे-वैसे उनका रूप लावण्य, शील-सुषमा और तेजस्विता बढ़ती गई। मिथिला राज्य में ही नहीं अपितु दूर-दूर तक मनोहारिणी सीता की ख्याति व्याप्त हो गई और दिग्दिगन्तों तक फैलती ही गई।

अभी सीता केवल सात वर्ष की हुई थी कि एक और विस्मयकारी घटना घटी। जनकजी के प्रांगण में पूर्वजों के समय से शिवजी द्वारा प्रदत्त 'पिनाक' नामक महाधनुष रखा हुआ था। इन्द्र के विख्यात "वज्र" विष्णु भगवान का "सारंग" और शिवजी का यह "पिनाक! तीनों ही महर्षि दधीचि की अस्थियों से बने थे। शिवजी ने त्रिपुर नामक असुर का इसी

पिनाक से वध किया था जिसके कारण वे त्रिपुरारी कहलाने लगे। यह धनुष बहुत भारी था। दस बीस बलवान पुरुष तो उसे मिलकर भी नहीं उठा पाते थे। विशाल शकट पर रखे हुए उस धनुष को अनेक हाथी ही खींचकर लाते ले जाते थे।

महाराज जनक शिवार्चन के तुरन्त पश्चात इस धनुष की पूजा भी किया करते थे। एक दिन महाराज जनक को यह देखकर बड़ा विस्मय हुआ कि सीता ने खेल-खेल में ही उस धनुष को आंगन के एक कोने से खिसका कर दूसरे कोने में पहुंचा दिया था। उसी क्षण महाराज शीरध्वज ने सीता को ''वीर्यशुल्का'' घोषित कर दिया। अर्थात् जो वीर अपना बल वीर्य प्रमाणित करते हुए उस धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर उसे आकर्षित कर लेगा, वही सीता की वरमाला का अधिकारी होगा।

किशोरी सीता के अद्वितीय और अलौकिक सौन्दर्य की ख्याति के साथ धनुष को आकर्ण खींचने की शर्त का समाचार भी संसार में व्याप्त हो गया। सीता के लिये लालयित दर्प भरे राजा और राजपुत्र मिथिलापुरी में आकर अपना भाग्य आजमाने लगे। कैकेय, गांधार, सिन्ध, काशी, अंग, महेन्द्र, उत्तर कौशल आदि के राजा यक्ष, राक्षस, अभिमानी असुराधिप मिथिलापुरी में आते और असफल होकर अपकीर्ति के पात्र बनकर मुँह लटकाए लौट जाते थे। यहाँ तक कि विरोचन पुत्र बाणासुर और विश्रवानन्दन लंकापति रावण भी उसे उठाने और उसकी प्रत्यंचा चढ़ाने में समर्थ नहीं हुए। रावण तो किसी समय बलपूर्वक सीता को छीन ले जाने की धमकी दे गया, किन्तु बाणासुर धनुष के सामने मस्तक टेक कर उसका पूजन करके वापिस चला गया।

महाराज जनक को चिन्ता होने लगी कि क्या सीता को अविवाहित ही रहना पड़ेगा? क्या पृथ्वीमण्डल पर उस धनुष को चढ़ाने वाला कोई भी वीर नहीं रहा? क्या धरा सर्वथा वीर विहीन हो गई है?

इसी बीच इक्षुमती के तटपर वसी शांकाश्या नगरी के अधिपति सुधन्वाने सीता को बलात् ले जाने के उद्देश्य से मिथिला पर आक्रमण कर दिया। महाराज शीरध्वज ने युद्ध में उसे मार डाला और शांकाश्या नगरी पर अधिकार कर लिया तथा वहाँ अपने छोटे भाई कुशध्वज को अभिषिक्त कर

दिया।

चिन्ता में निमग्न महाराज जनक और महारानी सुनयना के साथ सारे नगरवासियों को सीता के विवाह की उत्सुक प्रतीक्षा थी। इसी समय जनक जी के कुल पुरोहित सतानन्दजी ने आकर उन्हें सूचित किया कि महर्षि विश्वामित्र जी के आश्रम पर बड़ी बड़ी चमत्कारी घटनाएँ हुई हैं। अपने बल और निष्ठुरता के लिये कुख्यात ताड़का नामक राक्षसी की दशरथनन्दन राम ने एक ही बाण से बैधकर हत्या कर दी है और उसके बड़े पुत्र मायावी मारीच को बिना नोक के बाण से ऐसा आहत कर दिया कि वह प्राण बचाकर हमेशा के लिये वहां से पलायन कर गया और ताड़का का छोटा पुत्र सुबाहु भी राम के अग्निबाण से भस्म होकर नष्ट हो गया। राम के अनुज ने भी इन राक्षसों के सैकड़ों सहयोगियों को देखते-देखते ही समाप्त कर डाला। अपने यज्ञ की निर्विघ्न पूर्ति के लिये और इन असुरों के विनाश के लिये कुशिकनन्दन विश्वामित्रजी कौशलेश दशरथ जी के इन पुत्रों को उनसे कुछ समय के लिये मांग लाये थे। इतना ही नहीं तो सतानन्दजी ने यह भी बतलाया कि वहीं उनके पिता गौतम ऋषि के आश्रम में उनकी माता अहल्या पति से शापित होकर पाषाणवत् पड़ी रहती थी, राम की पावन चरणरज से उनका भी उद्धार हो गया है। जिसका सुसमाचार पड़ोस के ऋषि कुमारों ने आकर हमको दिया है।

गौतम नन्दन सतानन्दजी के मुख से राम के पराक्रम और उनकी पावनता के समाचारों से जनकजी की बाछें खिल गईं और उन्होंने बिना समय खोये दूतों को भेजकर महर्षि विश्वामित्र को आमन्त्रित किया कि वे मिथिला पधारने की कृपा करें। उनका अनुमान था कि महामुनि के साथ वे चमत्कारी दशरथ कुमार भी अवश्य आयेंगे।

सतानन्दजी से प्राप्त समाचार सम्पूर्ण मिथिलापुरी में तेजी से फैल गया। वैदेही सीता ने भी राम के पराक्रम, उनकी पावनता और उनके सौंदर्य की ख्याति सुनकर हार्दिक सुख की अनुभूति की तथा राम को देख पाने की लालसा उनके मन में उसी प्रकार बलवती होती गई जिस प्रकार विदर्भराज-नन्दिनी दमयन्ती के मन में हंस के द्वारा निषधराज महाराज नल के सौंदर्य की ख्याति सुनकर हुई थी। उनकी मनोदशा उनके सखीमण्डल

और माता सुनयना की दृष्टि से छिपी न रही। सीता इन समाचारों से ऐसी खिल गई थी जैसे रवि की प्रथम किरण के स्पर्श से कमलिनी खिल जाती है।

महाराज जनक के अनुमानों तथा आशाओं के अनुसार ही महर्षि विश्वामित्र अपनी मुनि मण्डली और दोनों दशरथ कुमारों के साथ मिथिलापुरी में आ पहुँचे।

जब दोनों कुमार नगर दर्शन के लिये मिथिलापुरी के मुख्य राज्य मार्गों और प्रमुख कूचों में से होकर निकले, तब नर नारियों के समूह उनके दर्शन के लिये उमड़ पड़े और उनके नयनाभिराम मनोहारी रूप की चर्चा पूरे नगर में फैलकर जनकजी के अंतःपुर तक जा पहुंची। सीता तो प्रणय के प्रथम रूप 'औत्सुक्य'' से ओत प्रोत हो गई। यद्यपि वीर्य शुल्का होने के कारण उन्हें शिव धनुष चढ़ाने वाले को ही अपना पति बनाना था और तब तक अपने मन की पति विषयक भावनाओं को समेटकर रखने की अनिवार्यता थी, तो भी जनश्रुति के प्रभाव से उन्हें अपने पिता की तत्संबंधी घोषणा से चिढ़ होने लगी।

कुछ ऐसा दैवी संयोग हुआ कि अगले प्रभात की बेला में सीता की माताजी ने राजोद्यान स्थित गोरी देवी के मन्दिर में उन्हें पूजा करने के लिये सहेलियों के साथ भेज दिया और उसी समय गुरू आज्ञा से उनकी पूजा हेतु पुष्पों को चुनने के लिये राम, लक्ष्मण भी उसी राजोद्यान में पधारे। अचानक साक्षात्कार हो गया। राम की ओर सीता ने दृष्टि क्या उठाई कि उनके तन मन में एक अनूठे भाव का स्फुरण हो गया। और उनके स्मृति पटल पर राम की मनोहर झांकी स्थायी रूप से अंकित हो गई। सीता की लाजवंती आंखें ज्यों ज्यों धरती की ओर झुकी रहने का प्रयत्न करतीं त्यों त्यों वे निर्निमेष होकर राम के मुख मण्डल पर जा चिपकती। सीता ने मन ही मन राम के प्रति पूर्ण समर्पण कर दिया और निश्चय कर लिया कि यदि वे धनुष चढ़ाने की शर्त को पूरा नहीं भी कर सकेंगे तो वे प्राण त्याग देंगी, किन्तु किसी अन्य के साथ वे कदापि विवाह नहीं करेंगी। लगभग यही विचार उनकी माता सुनयना और उनकी समस्त सहेलियों के मन में भी उठने लगे। उन्हें भी लगा कि विख्यात सुन्दर और

ऐसे पराक्रमी दशरथ कुमार राम ही सीता के लिये सर्वथा उपयुक्त वर हैं और महाराज जनक को अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर अविलम्ब दोनों का विवाह निश्चित कर देना चाहिए।

विधाता ने भी जानकी और उनके माता-पिता तथा नगर निवासियों की आकांक्षा पूरी कर दी। राम ने शिव धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर उसे ऐसा खींचा कि वह भीषण कड़कड़ाहट के साथ दो टुकड़ों में विभक्त हो गया। जनकनन्दिनी सीता, उनके माता पिता परिजन और पुरजन सभी के आनन्द की सीमा न रही। फिर विवाह समारोह के दिवस और रातें ऐसी बीतीं मानों उनके मन स्वप्नलोक में विचरण कर रहे हों। सीता की खुशियों में ज्वार लाने वाली एक घटना और हुई। उनकी अनुजा उर्मिला का विवाह रामानुज वीरवर लक्ष्मण के साथ और कुशध्वज की पुत्रियों माण्डवी और श्रुतिकीर्ति का विवाह कुमार भरत और कुमार शत्रुघ्न के साथ एक ही मूहूर्त में सम्पन्न हो गये। कौशल और मिथिला के राज्य अटूट स्नेह बंधन में बंध गये।

फिर सीता को पतिगृह में तीनों सासों और श्वसुर का ऐसा वात्सल्य मिला कि उन्हें अपनी माता सुनयना और पिता विदेहराज जनक का विछोह अखरा नहीं। माता कौशल्याजी राम से अधिक रामप्रिया वैदेही पर अपने प्राण न्यौछावर करती थी। कहीं किसी दुख की छाया तक नहीं थी।

दैव के दुर्विपाक से अपने पुत्र भरत के लिये राज्य के लाभ ने माता कैकेई को इतना अंधा बना दिया कि निष्ठुर होकर उन्होंने अपने उन्हीं लाडले राम को चौदह वर्ष के लिये वनवास दे डाला जिन्हें वे अपना दूसरा नेत्र कहा करती थीं। यद्यपि इस काण्ड का कलंक कैकेई के पितृगृह से आयी उनकी मुँह लगी दासी मंथरा के माथे पर लगाया जाता रहा है तथापि लोभ का प्रवेश तो कैकेई के मन में हुआ था न? लोभ में वे इतनी अंधी हो गईं कि उन्हें अपने पति के मन की लगी भीषण ठेस भी नहीं दिखलाई पड़ी जिसके कारण वज्रपात हुआ। राम अपने अनुज लक्ष्मण और नवविवाहिता प्रिया वैदेही के साथ सबको बिलखता छोड़कर वन चले गये और विधवा होकर तथा अपने पुत्र भरत से तिरस्कृत होकर कैकेई को जीवनभर घोर पश्चाताप की आग में जलते रहना पड़ा।

जनकनन्दिनी सीता के मन को अपने पति की तरल प्रेम छाया में वनवास के कष्ट कदापि न छू सके। उस क्षण को वे स्वर्गोपम सुख की अनुभूति से रोमांचित हो गईं, जब चित्रकूट के सुरम्य मन्दाकिनी तट पर एक स्फटिक शिला पर बैठे हुए राम ने वन्य पुष्पों की मालायें गूंथकर अपने हाथ से उनका श्रृंगार किया फलों तथा मधु के लिये लक्ष्मण के चले जाने पर; और बड़ी देर तक उन्हें निहारते हुए उल्लसित होते रहे।

जिस समय राम उनकी गोद में सिर रखकर अकस्मात् निद्रित हो गये उस समय इन्द्रपुत्र जयन्त जिसका मन सीता के अप्रतिम सौन्दर्य को देखकर विचलित हो गया था, कौवा बनकर कुटिलतापूर्वक बार बार उनके वक्ष को चोंचों से आहत करने लगा। सीता असमन्जस में थी कि पति की सुखनिद्रा भंग करें या नहीं। उनके वक्ष से निकली गरम रक्त की बूँदों ने सहसा राम की नींद तोड़ दी। उन्होने सजग होकर उस दुष्ट कौए को लक्ष्य करके एक अभिमन्त्रित सींक को ही बाण बनाकर चला दिया। भला कौए को लौह शर से वेधना क्या उचित होता? जयन्त अपने मौलिक रूप में स्थित होकर एक लोक से दूसरे लोक में व्याकुल भटकता फिरा, पर उसके पिता देवराज इन्द्र समेत किसी ने भी उसे संरक्षण नहीं दिया। क्या राम बाण से किसी को प्राण मिल सकता था? जब वह नारदजी की सत्प्रेरणा से वापिस आकर राम के चरणों में 'त्राहिमाम्'' कहता हुआ आ गिरा तब राम ने जनकनन्दिनी की ओर प्रश्नात्मक दृष्टि से देखा। वे बोलीं ''प्रभो। इसने मुझ पर कुदृष्टि डाली है, अस्तु इसके नेत्र फोड़ दीजिए। यही इसके लिये उपयुक्त दंड होगा ताकि यह जीवनभर आत्मग्लानि की आग में जलता रहे।'' राम ने गद्गद् होकर सीता से कहा ''कितनी कोमल हृदया हो प्रिये! धन्य है तुम्हारी करुणा! लो, मैं इसकी दोनों तो नहीं पर एक आंख फोड़कर इसे प्रतीक दण्ड देता हूं।'' उसी क्षण राम की मंत्रपूरित वह सींक उसके वाम नेत्र में घुस गई। वह एक नयन हो गया और प्राणदान पाकर भगवान राम और सीता की चरण वन्दना करके देव लोक चला गया। सीताजी इस प्रसंग को जीवन भर कभीं नहीं भूली क्योंकि तीव्र सुख की अनुभूति और तीव्र मानसिक वेदना एक ही साथ उन्हें अभिभूत कर गई थी। उन्हें सदैव एकाकी क्षणों में यह घटना उन्मथित करती रही।

*　　*　　*　　*　　*　　*

सीता को अपने अनुकूल बनाने के प्रयासों में पुनः असफल होकर रावण क्रुद्ध हो गया। उसे सीता की मुखाकृति बहुत कुछ उस तापसी वेदवती जैसी दिखलाई पड़ती थी जिसे वह लगभग भूल चुका था और जिसकी स्मृति को सीता ने पुनः कुरेद दिया था। क्योंकि वेदवती के साथ उसका शाप भी रावण को याद आ आकर सताने लगा। वह हाथ में नंगी चन्द्रहास (एक विशिष्ट प्रकार की लम्बी तलवार) लेकर सीता की ओर उनका वध करने के अभिप्राय से दौडा, परन्तु मंदोदरी द्वारा हाथ पकडकर रोक दिये जाने पर रावण ने सीता के प्राण तो नहीं लिये तथापि सभी अनुचरियों को यह आदेश देकर कि वे सीता को संत्रस्त करती रहें, वह अशोकवाटिका से चला गया और धमकी दे गया कि यदि एक माह के भीतर सीता ने हठ नही छोडा और उसकी अंकशापिनी बनना स्वीकार नहीं किया तो वह अपने हाथों उनका वध कर देगा। उसके जाने पर सीता को उसके शब्द, "अपने उस तापसी राम को भूल जा जिसकी छाया भी अब तेरे पास नहीं पहुंच सकती" व्यथित करने लगे। साथ ही याद आने लगा उस बूढे अरूणनन्दन जटायु का बलिदान! ओह, कैसा अदम्य साहस और परोपकार की मूर्ति था वह! रावण की करार करवाल से दोनों पार्श्व विदीर्ण कर दिये जाने से मरणासन्न, विवश, रक्त में नहाये हुए उस महात्मा के नेत्रों में कितनी करुणा और कैसी निर्भीकता थी! वे सोच रहीं थीं कि क्या उस वीर का उत्सर्ग व्यर्थ चला जायेगा? क्या सचमुच उन्हें पति से पुनर्मिलन की आशा छोडकर किसी उपाय से अपने प्राण त्यागने पड़ेंगे?

अचानक सीता ने अपने विचारों की बाढ़ को त्रिजटा नाम की उस वृद्धा दासी की आवाज सुनकर रोक दिया जो बहुधा उन्हें बडे वात्सल्य के साथ ढाँढस बंधाती रहती थी। वह चतुर्दिक खडी खड्‌गधारिणी अनुचरियों को संबोधित करके कह रही थी, "तुम लोग लंकेश्वर की आज्ञा कदापि न मानो क्योंकि इनका तो अब सर्वनाश ही समझो! आज ही भोर होने के ठीक पहले मैंने बड़ा भयंकर स्वप्न देखा है जिसे याद कर-कर के अभी भी मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं।" अनुचरियाँ त्रिजटा के व्यक्तित्व से प्रभावित थीं

और उसके स्वप्न को जानने के लिये उत्सुक हो गईं। क्योंकि वे बड़ी अंधविश्वासिनी थीं। अतः एक साथ बोली'' आर्ये! कैसा भयंकर और क्या स्वप्न देखा है आपने? प्रभातवेला में देखा हुआ स्वप्न तो शीघ्र ही फलदायी हुआ करता है।''

त्रिजटा ने उनके अंधविश्वासी मनों को आतंकित करने के लिये बडे घबड़ाये हुए स्वर में कहा, ''कुछ न पूंछो मैने देखा कि लंका में जगह जगह आग भडक उठी है और सिर विहीन महाराज रावण का रूण्ड एक गधे पर आरूढ़ होकर विकराल गर्जना करता हुआ दक्षिंण दिशा में बडे वेग से चला जा रहा है और उसके पीछे सैकड़ों श्रृगाल मुँह उठाकर 'हुवा हुवा' करके दौड रहे हैं। मेरी नींद टूट गई, घिग्घी बंध गई और मैं हडबडाकर उठ बैठी।'' स्वप्न सुनाते हुए त्रिजटा ने सिहरने और आखें मूंदकर कंधे उछालने का अभिनय किया मानो वह बहुत आंतकित हो। अनुचरियां भी सिसकारियां भरती हुई और हाय हाय करती हुई भयभीत हो गईं और सीता के चरणों में माथा टेक टेक कर कहने लगीं, ''हम पर कृपा करना देवी। यह आपके ही सतीत्व का प्रभाव जान पड़ता है। अब से हम आपका कोई अहित नही करेंगी।'' इसके साथ ही वे वाटिका में पहरा देने के लिये अपने अपने नियत स्थानों पर चलीं गईं। त्रिजटा रह गई। उधर वृक्ष पर छिपे हुए मरूत् नन्दन सोच रहे थे कि यह अच्छा सूत्र मिला। इसी कार्यक्रम को कार्यान्वित करके स्वप्न का पूर्वांश तो मै सत्य कर ही डालूंगा और लंका में भीषण अग्निकांड द्वारा इनके अंधविश्वास को और अधिक बढाऊंगा।

एकांत पाते ही त्रिजटा ने सीता को अंक में भर लिया और अश्रुपात करती हुई बोली, ''धीरज न खोना बेटी! तुझे जरूर तेरा पति शीघ्र मुक्त करायेगा इसमें संदेह नही है। भगवान के घर देर है अंधेर नहीं। इस दुष्ट रावण से तो अब सभी को घृणा हो गई है। कम्बख्त मरता भी तो नही है।'' त्रिजटा के स्वर में और आंखों में सीता को वही सच्ची सहानुभूति दिखलाई दी जो चित्रकूट में माता सुनयना, सास कौशल्या देवी और वयोवृद्धा तपस्विनी माता अनसूया के नेत्रों और स्वर में उन्हें दिखलाई दी थी। त्रिजटा से ढाँढ़स पाकर सीता के शोक का बांध फूट पडा और वे

उसके कंधे पर सिर रखकर खूब रोईं। वे बोलीं, "मां! तू कितनी चतुर है? तूने स्वप्न की बात गढ़कर और घबराहट का अभिनय करके इन निशाचरियों को मेरा हित करने के लिये आतंकित किया है? अब एक सहायता और करो देवी। मैं सूखें काष्ठ बटोरे लेती हूं, तुम कहीं से आग ला दो। अब आत्मदाह में ही मेरी गति है। यों भी आज रावण मुझे मार डालने के लिये उद्यत हो गया था। यदि उसने तलवार का वार कर दिया होता तो कितना अच्छा होता।" त्रिजटा ने सीता को जी भरकर रो लेने दिया। फिर आग ढूंढ़ लाने का बहाना बनाकर उसने उन्हें अकेला छोड़ दिया। विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति को एक मात्र एकांत का ही सहारा होता है। त्रिजटा ने ठीक सोचा था। एकांत होते ही सीता को अपने घटनाबहुल अस्तित्व की स्मृतियों ने घेर लिया। उन्हें याद आया कि किस प्रकार थकावट और कडी धूप से झुलसते हुए जब उनके अधर और कण्ठ सूख जाते थे तब लक्ष्मण द्वारा दूर से लाये हुए जल से उन्हें अमृत से भी अधिक तृप्ति मिलती थी। कई बार वर्षा की अंधेरी रातों में जब फुंकारता हुआ सर्प गुफागृह में घुस आता था तब किस प्रकार सजग लक्ष्मण के तीक्ष्ण बाण से बिंधकर उसका कटा हुआ फन और उसकी लहराती हुई देह प्राण विसर्जित करती थी। अहो, ऐसे निष्कपट देवर को उन्होंने क्रूर व्यंग्य बाणों से आहत किया और उनकी मंशाओं पर सन्देह करके उन पर आरोप भी लगाये। पर क्या करती, हूबहू राम के स्वर में जब उन्हें आर्तनाद सुनाई पडा तब वे विव्हल होकर सारी सुधबुध खो बैठी थीं।

यादों का यह सिलसिला न जाने कब तक चलता ही रहता यदि सीताजी ने अशोक वृक्ष से टपक कर किसी चमकती हुई वस्तु को अपने बिल्कुल पास गिरते हुए देखा। जैसे ही उन्होंने उठाकर उसे देखा वैसे ही उनका हृदय धकधक करने लगा। "अरे यह तो उनकी वही अगूंठी है जिस पर आर्य पुत्र का नाम अंकित है और जिसे उन्होने गंगा पार करने के बाद केवट को उतराई चुकाने के लिये उन्हें दे दी थी। यह यहाँ कैसे आ गिरी? क्या दुर्दैव के कारण पुनः कोई अनिष्ट घटना घट गई है?"

तभी राम दूत पवन पुत्र से भेंट हुई और सारा वृतांत जानकर अपनी मुक्ति की आशा पुनः मन में धारण करके उन्हें कितना सुख मिला

था। कुछ समय के लिये वे अपने सारे कष्ट भूल गईं। उन्हें मरूत नन्दन के रूप में माता का संबोधन देने वाला मानो उनका अपना पुत्र ही मिल गया हो।

* * * * * *

अयोध्या की विजयिनी सेना सहित श्रीराम और उनके तीनों अनुजों को पराजित करके एवं हनुमान को लतापाश में बांधकर यज्ञाश्व के साथ लेकर आये अपने युग्म पुत्रों-लव और कुश पर सीताजी को बडा क्रोध आया और जब उनके सहमे हुए स्वर में श्रीराम और उनके तीनों अनुजों को पराजित और मूर्च्छित किये जाने का समाचार उन्होंने सुना तब वे अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख सकीं। उन्होने बडे पुत्र कुश को एक थप्पड मार ही दिया। फिर उन पर तरस भी आया। क्योंकि उन बेचारों को क्या पता था कि राम ही उनके पिताश्री हैं। अपनी माता के झरझर झरते अश्रुप्रवाह को देखकर लव कुश सहम गये और अपने अज्ञात अपराध के लिये उनसे क्षमा मांगने लगे। तभी बंधें हुए हनुमान चुप नहीं रह सके। बोल पडे, "माता! मैने तो पहले ही इन बालकों की मुखाकृति में आपकी और प्रभु राम की आभा के दर्शन पाकर समझ लिया था कि यह आपके चिरंजीव हैं। अद्भुत् है इनका पराक्रम! इनके सामने लवणासुर का वध करने वाले मधुराधिपति शत्रुध्न, इन्द्रजीत जैसे योद्धा को मार गिराने वाले प्रभु के अनुज लक्ष्मण और रावण को एक मुक्के में धूल चटा देने वाला मैं स्वयं बात की बात में इनसे पराजित हो गया। कुछ भी करते धरते नही बना किसी से!"

"हनुमान," सीता के स्वर में घबराहट और थरथराहट थी, "हनुमान !! तात्!! मेरे तीनों देवरों के साथ आर्यपुत्र सकुशल तो हैं न ? इन मुखौं ने उन्हें कितना क्षत विक्षत किया है? मुझे शीघ्र उनके पास ले चलो पवन पुत्र!"

प्रत्युत्पन्न मति का प्रयोग करते हुए लवकुश ने तत्काल हनुमान को बन्धनमुक्त किया और अपने पिता तथा तीनों पितृव्यों का परिचय पाकर ये उनकी चरणवन्दना करने के लिये लौटकर युद्ध भूमि की ओर जाने को उद्यत हुए ही थे कि महर्षि वाल्मीकि के साथ अपने राम को आते हुए

देखकर सीता ने आतुरतापूर्वक उठकर दोनों के चरणों में मस्तक टेका और घबडाये हुए कण्ठ से बोली, ''आर्यपुत्र! मुझे क्षमा करें, सारा दोष मुझ अभागिन का ही है। मैने ही लोकलाज के कारण इनसे आपका और अपना परिचय छिपा रखा था। इन्हें तो इतना ही ज्ञान है कि ये ''वन देवी'' के पुत्र हैं और महर्षि के प्रिय शिष्य। नाथ इनके अनजाने में किये गये उद्दण्ड अपराधों को क्षमा कर दीजिये।''

राम ने करूणाद्र कंठ से कहा, ''उठो देवी! तुम तो मेरे हृदय की एकमेव अधीश्वरी हो! तुम मुझसे भिन्न कहां हो जो क्षमा मांग रही हो। मुझे अपने दोनों पुत्रों पर अतीव गर्व है। इनके संगीत और सुमधुर गायन से तो मैं इनके प्रति पहले ही आकृष्ट हो चुका था। अब इनके रणकौशल को देखकर तो मैं अभिभूत हो गया हूं।'' इसी बीच लव और कुश ने लज्जा से सिर झुकाए हुए आकर राम का चरण वंदन किया और कातर कण्ठ से क्षमा याचना की। प्रभु राम गद्गद् हो गये और उन्होंने अपने युगल पुत्रों को एक साथ अपने आलिंगन में कस लिया। राम के तीनों अनुज एवं सेना नायक भी आ गये और सीताजी के दर्शन कर उन्होंने उनकी चरणवन्दना की और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। फिर प्रणाम करते हुए लव कुश का परिचय पाकर उन्होने दोनों को बारी बारी से हृदय से लगाया। सभी को अपूर्व आनन्द हुआ।

अयोध्यापति महाराज राम की आज्ञानुसार लव कुश को साथ लेकर उनके अनुज सेना सहित राजधानी की ओर प्रस्थित हुए। राम जी ने महर्षि वाल्मीकी से प्रार्थना की कि वे सीता को राजसभा में अपने साथ लिवा लाने की अवश्य कृपा करें।

अश्वमेघ यज्ञ की पूर्णाहुति के पश्चात मुक्तहस्त दान करते हुए प्रभु राम को महर्षि वाल्मीकि जी के साथ सीता को आते हुए देखकर अपार हर्ष हुआ। महर्षि का चरणवन्दन करके उन्होने गुरू वसिष्ठ के समीप उन्हें आसनासीन किया।

उधर सभा ''महारानी जी की जय! सीता महारानी की जय!'' के जयकारों से गूंज उठी। पर महाराज राम ने सभा को संबोधित करते हुए ऊंची आवाज में घोषणा की, ''सभी सभासद मेरी इस शपथयुक्त घोषणा

को सुनें कि लव और कुश मेरे ही पुत्र हैं। और उनकी वीर माता पर मुझे न कभी संदेह रहा है और न है। तथापि अयोध्या के राजसिंहासन पर मेरे वामांश में जनकनन्दिनी को तभी स्थान मिल सकता है जब वे सार्वजनिक रूप से अपनी पवित्रता को सत्यापित कर दें।'' महाराज राम की इस घोषणा से तीनों राज माताओं के साथ राज परिवार के सभी सदस्य, सभासद, उपस्थित ऋषि महर्षि अपने क्षोभ को कदापि दबाये न रख सकें। सभा का पूरा वायु मण्डल उनके उद्‌गारों से तप गया। अपूर्व कोलाहल उठ खडा हुआ। ऐसा लगा जैसे महा सागर में ज्वार आ गया हो और उसकी गर्जना कानों के पर्दे फाड़ रही हो।

महर्षि वाल्मीकि को खडे होते देखकर सभा एकदम सन्नाटे में आ गई। महर्षि ने कहा, ''मैने जिस सत्य की साधना करके अपने चाण्डाल जीवन से लेकर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति तक सफलता प्राप्त की है, उसी सत्य की शपथ के साथ मैं घोषणा करता हूं कि सीता देवी अग्निशिखा के समान पवित्र है। जहां तक उनके द्वारा अपनी पवित्रता को सार्वजनिक रूप से सत्यापित करने की बात है, वे उसे वन में अग्निपरीक्षा द्वारा कर चुकी हैं। स्वयं वीरवर लक्ष्मण, वानरराज सुग्रीव, लंकापति विभीषण, वृद्ध जाम्बवान और अखण्ड ब्रह्मचारी हनुमान सभी उस सत्यापन के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। अतः मैं पुनः सत्यापन की रामाज्ञा को अनुचित ही नहीं अन्याय पूर्ण मानता हूं।''

सम्पूर्ण सभा महर्षि के शब्दों का अनुमोदन करती हुई, ''साधु, साधु! यथार्थ है!।'' कहने लगी।

इस पर महाराज राम बोले, ''महर्षि मुझे क्षमा करें। जिन साक्षियों को आपने गिनाया है वे सब या तो मेरे मित्र हैं अथवा मेरे आश्रित! यों तो मैं स्वयं भी उस अग्नि परीक्षा का प्रत्यक्ष साक्षी हूं। पर इन सब का और मेरा साक्ष्य निष्पक्ष नही माना जा सकता।'' रामजी के शब्द अभी गूंज ही रहे थे, कि सब ने देखा कि महारानी सीता सिर झकाए आंखों से अश्रु प्रवाहित करती हुई आगे बढ़ीं। अपने पतिदेव श्री रामचन्द्रजी के चरणों में माथा टेक कर खडी हुईं और स्वर को ऊंचा करते हुए बोलीं, ''पूज्य गुरूजन! एवं सभासदो! मेरे धर्मपिता महर्षि वाल्मीकि जी के उद्‌गार यथार्थ

हैं, तथापि उन्हें नकारते हुए मैं भी मानती हूं कि मुझ निरपराध सीता को नहीं अपितु राजरानी सीता के लिये पवित्रता का सार्वजनिक सत्यापन अवश्य ही करना चाहिए। वह अनिवार्य है और मै प्राणपति की आज्ञा का नही बल्कि अयोध्यापति महाराज की आज्ञा का पालन करते हुए आज पुनः यह सत्यापन करूंगी। पर मुझे अयोध्यापति महाराज से और उनके राजदरबार से पूंछना है कि इस सत्यापन की आज्ञा मेरे निष्कासन के पूर्व क्यों प्रसारित नही की गई? पहले राजदण्ड देकर अब राजदण्ड को औचित्य अनौचित्य की तुला पर चढाना कहां तक न्यायपूर्ण है?''

पूरा दरबार निरुत्तर था जो उसमें व्याप्त सन्नाटे से स्पष्ट हो गया। राम जी भी निरूत्तर थे। गुरू वसिष्ठ जी से भी कुछ कहते न बना? कई पलों तक राजसभागार में सन्नाटा छाया रहा।

सहसा सबने देखा कि सीता महारानी भूमि पर मस्तक टेकती हुई बुदबुदा रही हैं, ''हे पृथ्वी माता! मुझसे अब और सहन नहीं होता! यदि मैंने अपने जीवन में कभी एक क्षण के लिये भी राम की स्मृति न खोई हो और यदि जाने अनजाने में भी पर पुरूष का संग न किया हो तो हे धरती मां! मुझे अपनी गोद में शरण दे!! तूने ही मुझे जन्म दिया है और तू ही मेरी अन्तिम गति है!!! मुझे गोद में उठा ले मां — उठा ले ——''

एक तीव्र कड़कड़ाहट के साथ विशाल सभागार का फर्श फटा। दरार चौडी हुई और उसमें से एक आभायुक्त सिंहासन प्रकट हुआ। जिस पर मुकुट धारण किये धरादेवी विराजमान थी। उन्होंने दोनों हाथ फैलाकर, ''आ बेटी! आ मेरी दुलारी!! आ सीते!!!'' कहते हुए सीता को अपनी गोद में बिठाला और सिंहासन सहित जिस प्रकार दरार में से उभरी थी वैसे ही उसमें समा गईं। उनके विलुप्त होने के अगले ही क्षण दरार भी मिट गई और फर्श पूर्ववत् अटूट दिखलाई पडने लगा। प्रभु राम ''सीते! सीते !! ठहरो, प्राणेश्वरी !!!'' कहते हुए धाए और लव कुश, ''माता ! माता!! रूक जाओ माता !!!'' कहते हुए तेजी से आगे बढ़े। पर सीतादेवी का कहीं कोई चिन्ह शेष नहीं था। राज सिंहासन के वाम पार्श्व में रक्खी उनकी स्वर्णप्रतिमा अवश्य उके प्रश्न का उत्तर मांगती हुई निर्निमेष सभा को घूरती रही, घूरती ही रही। पर क्या उस प्रश्न का आज

तक किसी ने कोई उत्तर दिया? पाठ्कगण स्वयं अपने शुद्ध अंतःकरण में सीता के उस प्रश्न का उत्तर खोज सकें तो खोजें।

किन्तु क्या "रामप्रिया, धरापुत्री, वैदेही सीता" का सचमुच कोई चिन्ह शेष नहीं रहा? नहीं, ऐसा कदापि नही।" वे तो आज भी भारत के कोटि कोटि जनों के हृदयों में उतनी ही जीवन्त हैं। देखो, संसार के लोगों! इस त्याग, तप, पवित्रता, सहनशीलता और उदात्त चारित्र्य वाली भारत की इस अंतरंग आत्मा का अवलोकन करो!! तुमने नारीत्व की ऐसी आदर्श दिव्य ज्योति कभी कहीं न देखी होगी!!!

— * —